अंतिम तीर्थंकर

महावीर

श्री व्यथित हृदय

शकुन प्रकाशन

मूल्य : चार रुपये
प्रथम संस्करण, १९७२
आवरण : नारायण

•

प्रकाशक : शकुन प्रकाशन
३६२५, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
मुद्रक : भारती प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक भगवान महावीर के जीवन-वृत्त पर आधारित है। उन्होंने कैसी-कैसी कठिनाइयों एवं दुर्गम मार्गों पर चलकर सत्य की खोज की और किस प्रकार बाधाओं और यातनाओं का शान्तिपूर्वक हंसते-हंसते सामना किया, यह इस पुस्तक को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है।

साथ ही इसमें भगवान महावीर के सूक्ष्म जैन-दर्शन और आदर्श-पथ को उन्हीं के शब्दों और उपदेशों में इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि जीवन की गूढ़तम गुत्थियां आप-से-आप सुलझती चली जाती हैं। संसार के रहस्यों से पर्दा उठता चला जाता है और दिव्य-ज्ञान की गहराइयों में आत्मा स्नान करने लगती है। इस दृष्टि से, इस पुस्तक का महत्त्व न केवल जैन-मतावलम्बियों के लिए ही सिद्ध होता है, वरन् यह सम्पूर्ण मानव-समाज के लिए कल्याणकारी मार्ग दर्शाने का कार्य करती है।

सत्य-अहिंसा का जो अर्थ कलियुगीन अंधकार में कुछ लोग समझ रहे हैं और जिस रूप में गहन चिन्तनों की इस महत्तम विचारधारा को वे देख पा रहे हैं, वह वास्तविक है या नहीं—इस पर भी यह पुस्तक पर्याप्त प्रकाश डालती है।

जैन-धर्म की वास्तविकता को आज भी संसार में भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोणों से देखा जाता है। परन्तु यह सभी एकमत से स्वीकार करते हैं कि अन्य दर्शनों में इसका पृथक् स्थान भी है और महत्त्व भी।

जहां तक 'सत्य' का प्रश्न है—इस बात से संसार भर के चिंतक और दार्शनिक सहमत हैं कि 'सत्य' केवल एक है और उसे टुकड़ों में विभक्त

करके नहीं देखा जा सकता। यही बात भगवान महावीर ने भी कही है। तिस पर भगवान महावीर तो ढाई हज़ार वर्ष पहले इससे आगे की बात भी कह गए हैं, जो आज की वैज्ञानिक कसौटी पर भी खरी उतरती है कि 'समय और परिस्थिति के अनुसार आप अपने विचारों में परिवर्तन ला सकते हैं।' उन्होंने कभी कट्टरपंथी की भांति कोई बात जन-जीवन पर थोपने का प्रयत्न नहीं किया, वरन् सत्य की खोज करने के उपरान्त जिस निष्कर्ष पर पहुंचे, उसे सर्वत्र तर्क और शास्त्रार्थ की कसौटी पर कसने के लिए तत्पर रहे। यही कारण है कि उनका 'सत्य' आज भी चिरन्तन है और गहन-से-गहन रहस्यों को खोलता प्रतीत होता है।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन इसी दृष्टि से जनसाधारण के लिए किया गया है कि पाठक और विद्वद्मंडल मानव-जीवन और संसार की वास्तविकता को समझने के साथ ही, भगवान महावीर की उपलब्धियों को भी संक्षेप में समझने का प्रयत्न करें।

—सुभाष जैन

जीयो और जीने दो

'जो अतीत, वर्तमान और भविष्य काल में अरिहंत भगवान थे, हैं और होंगे—वे सब इसी प्रकार का उपदेश, भाषण, प्रवचन और प्रतिपादन करते थे, कर रहे हैं और करेंगे कि—

सभी जीवों को अपने समान समझकर किसी भी प्राणीभूत-जीव को मत मारो, गुलाम मत बनाओ, पीड़ा मत पहुंचाओ और किसी को भी संताप मत दो और न किसी को उद्विग्न करो।'

—महावीर

क्रम

धर्म का अमृत : ९
जैन धर्म की ज्योति : १५
भगवान महावीर : एक महानतम विभूति : २७
धरती का रोदन—धरती के आंसू : ३३
वह पुण्य देश, वह पुण्य धरा : ३८
जब दिव्य-ज्योति धरा पर उतरी : ४३
बालारुण की स्वर्ण-रश्मियां : ५०
विरक्ति का स्वर्ण-कमल : ५५
स्मरणीय जय-यात्रा : ६२
अज्ञान का तम ढला, सच्चे ज्ञान की किरण फूटी : ८४
निर्वाण की सीढ़ियां : ११२
तृषा और तृप्ति : १३२
निर्वाण की पुण्य बेला : १४१

धर्म का अमृत

धर्म अमृत है। अमृत शीतल होता है, सुखकर होता है। अमृत से ताप मिट जाते हैं, क्लेश दूर हो जाते हैं। अमृत प्राणों में नव-शक्ति का संचार करता है, नश्वर को भी स्थायित्व प्रदान करता है—यही विशिष्टताएं धर्म में है। धर्म जब अपनी स्वर्णाभा के साथ प्रकट होता है, सुख, शान्ति और आनन्द का प्रकाश फैल जाता है। देश में, समाज में, मनुष्य के अन्तःकरण में—जहां भी धर्म अपने वास्तविक रूप में प्रकट होता है, क्लेश मिट जाता है, मलिनता के बादल छंट जाते हैं और खाइयां फूलों से पट जाती हैं, पारस्परिक पृथक्ताओं की दूरी सिकुड़कर समाप्त हो जाती है। इसीलिए बड़े-बड़े मनीषियों और आचार्यों ने देश, समाज और व्यक्ति को धर्म का अमृत पीने की सम्मति दी है।

धर्म अमृत है, धर्म सूर्य है, यह तो सत्य है, पर धर्म क्या है, धर्म का स्वरूप कैसा है, इस सम्बन्ध में संसार के चिन्तकों

में परस्पर अधिक मतभेद है। संसार के सभी चिन्तकों ने, सभी आचार्यों ने धर्म के स्वरूप की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की है। धर्म के सम्बन्ध में जितने प्रकार की अलग-अलग व्याख्याएं हुई हैं, संसार में उतने ही सम्प्रदाय भी स्थापित हुए हैं। आज विश्व का सम्पूर्ण मानव-समुदाय धर्म की विभिन्न व्याख्याओं के कारण लगभग २२०० सम्प्रदायों में विभक्त है।

हमारे देश में धर्म के स्वरूप को लेकर सबसे अधिक अनुसंधान हुए हैं। अब तक अनेक मनीषी, अनेक आचार्य ऐसे हो चुके हैं, जिन्होंने धर्म के अनुसंधान में बड़े-बड़े तप किए हैं, बड़े-बड़े कष्ट झेले हैं। फलतः हमारे देश में भी धर्म की कई धाराएं प्रवाहित हुई हैं। उन सभी धाराओं में जैन, वैदिक और बौद्ध धर्म की धाराएं तो प्रधान हैं ही—यहूदी, इस्लाम और जरतुश्त आदि धर्म-धाराएं भी, जो एशिया के दूसरे देशों में प्रकट हुई हैं, धर्म के ही अनुसंधान का परिणाम हैं।

मनुष्य अपने आदिकाल से ही धर्म के सम्बन्ध में अनुसंधान करता चला आ रहा है। बड़े-बड़े आचार्य और धर्म-प्रवर्तक प्रकट हो चुके हैं। सबने अपने-अपने ढंग से धर्म की व्याख्या की है, धर्म के स्वरूप को उजागर किया है। यह सच है कि सभी चिन्तकों और विवेचकों ने धर्म की व्याख्या अपने-अपने ढग से की है, पर किसी ने कहीं यह नहीं कहा कि वे एक नूतन धर्म का प्रवर्तन कर रहे हैं। इसके विपरीत सबकी व्याख्याओं और विवेचनाओं में एक ही स्वर का उद्घोष है। धर्मों की विवेचना में सभी केवल एक बात कहते हुए प्रतीत होते हैं—'हम उसी सत्य को प्रकट कर रहे हैं, जो सदा विद्यमान था, और

रहेगा।"

इस सम्बन्ध में तीर्थंकर महावीर का कथन मनन करने योग्य है—"जो जिन-अर्हन्त भगवन्त भूतकाल में हुए, वर्तमान काल में हैं, भविष्य में होंगे, उन सबका एक ही शाश्वत धर्म होगा, एक ही ध्रुव प्ररूपणा होगी और वह यह कि 'सव्वे जीवा न हन्तव्वा' अर्थात् 'किसी जीव की हिंसा मत करो, किसी को मत सताओ, न किसी के पराधीन बनो और न किसी को अधीन बनाओ।"

वैदिक मन्त्रों और बौद्ध-ग्रन्थों में भी धर्म के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए गए हैं। ऋग्वेद में धर्म के सम्बन्ध में कहा गया है—"सत् एक है। मनीषी और आचार्य उसका प्रतिपादन विभिन्न प्रकारों से करते हैं।" महात्मा बुद्ध ने एक स्थान पर अपने भिक्षुओं को उपदेशित करते हुए कहा है—"भिक्षुओ, मैंने एक प्राचीन राह देखी है। एक ऐसा मार्ग, जो प्राचीन काल के अर्हन्तों द्वारा अपनाया गया था, मैं उसी पर चला और चलते हुए कई तत्त्वों का रहस्य प्राप्त हुआ।"

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्म शाश्वत है, सत्य है। धर्म एक है, आदिकाल से है—सदा से है और सदा रहेगा। धर्म में विभिन्नताएं उसकी व्याख्याओं के ही कारण उत्पन्न हुई हैं। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि संसार के सभी धर्म-प्रवाह धर्म के अनुसंधानों के कारण ही उद्भूत हुए हैं। अतः यह कहना असंगत नहीं होगा कि संसार के सभी धर्म 'धर्म' नहीं, धर्म की व्याख्याएं हैं; सत्य नहीं, सत्य के अनुसधान हैं।

जैन धर्म में जो पूर्ण है, जो शाश्वत है, उसी को धर्म की संज्ञा में अभिहित किया गया है। तीर्थंकर महावीर धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में कहते हैं—'वत्सु सहायो धम्मों', अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। दूसरे शब्दों में, आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेना ही धर्म है। उन्होंने धर्म के दो पक्ष बताए हैं। एक पक्ष का नाम श्रुत और दूसरे पक्ष का नाम चारित्र है। श्रुत का सम्बन्ध ज्ञान से और चारित्र का सम्बन्ध सदाचार से है। भगवान ने चारित्र की और आगे व्याख्या करते हुए कहा है—"अहिंसा, संयम और तप ही धर्म का स्वरूप है।" व्याकरण-सूत्र में भगवान ने अहिंसा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है—"अहिंसा एक ऐसा दीप है, जो जगत् के सभी प्राणियों का पथ-प्रदर्शन करता है। वह एक ऐसा द्वीप है, जो डूबते हुए प्राणियों को सहारा देता है, त्राण है, शरण है, गति है, प्रतिष्ठा है। वह भूखों के लिए भोजन के सदृश है, प्यासों के लिए जल के समान है। रोगियों के लिए औषधि के समान है। इतना ही नहीं, भगवती अहिंसा इससे भी अधिक मंगलकारिणी है। यह पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, बीज, हरित, जलचर, स्थलचर, नभचर, चर, स्थावर—आदि समस्त प्राणियों के लिए मंगलमय है। अहिंसा ही समस्त प्राणियों को संरक्षण देने वाली, पाप और संताप का विनाश करने वाली जीवनदात्री शक्ति है। अहिंसा अमृत है, अमृत का अक्षय कोष है। इसके विपरीत हिंसा गरल है, गरल का भंडार है।"

प्रश्न यह है कि राष्ट्र और जीवन में अहिंसा की स्थापना किस प्रकार हो ? आचार्यों ने इस प्रश्न का उत्तर 'संयम' कह-

कर दिया है। यही कारण है कि अहिंसा के पश्चात् धर्म की सीढ़ियों में 'संयम' का ही स्थान है। संयम दो प्रकार का होता है—एक इन्द्रिय-संयम और दूसरा प्राणी-संयम। मन को सांसारिक विषयों से मोड़कर आत्मा में प्रवृत्त करने को इन्द्रिय-संयम कहते हैं। षट्काय के जीवों की हिंसा न करना प्राणी-संयम कहलाता है।

संयम के पश्चात् तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तप का अर्थ है कामनाओं को रोकना, उन पर विजय प्राप्त करना। तप के महत्त्व का चित्र निम्नांकित पंक्तियों में बड़ी सुन्दरता के साथ चित्रित किया गया है:

तवो कोई जीवो जोइ ठाणं, जोगा सुयासरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजम जोगसन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं।

—हे गौतम, तप अग्नि है, जीव ज्योति स्थान है। मन, वचन, काया के योग कुडछी है, शरीर कारिषांग है, कर्म ईंधन है, संयम, योग शान्तिपाठ है। ऐसे ही होम से मैं हवन करता हूं। ऋषियों ने ऐसे ही होम को प्रशस्ति कहा है।

इस प्रकार अहिंसा, संयम और तप से अन्वित चिरन्तन सत्य को ही धर्म की संज्ञा से अभिहित किया गया है। जिस मनुष्य के हृदय में अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी प्रवाहित होती है, उस मनुष्य की आत्मा विकारों से शून्य हो जाती है। उसके भीतर दिव्य-प्रकाश उदय होता है। मनुष्य ही नहीं, देवता भी उसके चरणों को स्पर्श करके अपने को धन्य मानते हैं।

अहिंसा, संयम और तप से अन्वित धर्म ही वास्तविक धर्म

है। यही अमृत है, यही सूर्य है, यही दिव्य-प्रकाश है। यही वह अमृत है, जिसकी प्यास युग-युगों से मनुष्य के भीतर रही है और रहेगी। इसी अमृत को प्राप्त करने की, पीने की आचार्यों और मनीषियों ने सलाह दी है।

वह देश, समाज और व्यक्ति धन्य है जो अहिंसा, संयम और तप से अन्वित धर्म के अमृत को पीने के लिए उत्कंठित रहता है।

जैन धर्म की ज्योति

जैन धर्म के सम्बन्ध में हम अपने विचार इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—"जहां अनेकान्त दृष्टि से तत्त्व की मीमांसा की गई है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलुओं पर विचार करके सम्पूर्ण सत्य की अन्वेषणा की गई है, खण्डित सत्यांशों को अखण्ड स्वरूप प्रदान किया गया है जहां किसी प्रकार के पक्षपात को अवकाश नहीं है, अर्थात् शुद्ध सत्य का ही अनुसरण किया जाता है, और जहां किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुंचाना पाप माना जाता है, वही जैन धर्म है। आचार सम्बन्धी अहिंसा, विचार सम्बन्धी अहिंसा, अर्थात् सत्य एवं स्याद्वाद का सम्मिलित स्वरूप ही जैन धर्म है।"

जैन धर्म की दिव्य-ज्योति का आविर्भाव इस भूतल पर कब हुआ, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कह सकना अत्यन्त कठिन है। इसका कारण यह है कि जैन धर्म का प्रवर्तन न तो किसी महापुरुष के द्वारा हुआ है, और न किसी विशेष

धर्म-ग्रंथ के नाम पर। यदि ऐसा होता तो जैन धर्म के उद्भव के काल के सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता था। वास्तव में जैन धर्म काल के घेरे से बाहर है। सुप्रसिद्ध पादरी राइस डेविड का मत है कि जब से यह पृथ्वी है, तभी से जैन धर्म भी विद्यमान है।

जैन धर्म जिनों द्वारा उपदिष्ट धर्म है। जिनों को ही तीर्थंकर कहते हैं। संसार में इतिहास, काव्य और साहित्य के रूप में जो चिर-प्राचीन सामग्री उपलब्ध है, उस पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि इस धरा-धाम पर आदिकाल से जिन अर्थात् तीर्थंकर होते आ रहे हैं। उन जिन-तीर्थंकरों ने समय-समय पर पृथ्वी पर अवतरित होकर उपदेश दिया है। सभी जिन-तीर्थंकरों के उपदेश एक ही मूल तत्त्व पर आधारित हैं। इस तथ्य को सामने रखकर जैन धर्म को पृथ्वी का आदि-धर्म कहना न्याय-संगत ही होगा।

तीर्थंकरों ने जिस धर्म को प्रसारित किया है, वह प्राणी-मात्र के कल्याण का मार्ग दर्शाता है। कोटि-कोटि मनुष्य आज भी उसके द्वारा अपने जीवन का पथ प्रशस्त कर रहे हैं। इसी प्रकार भविष्य में भी कोटि-कोटि मनुष्य इसके द्वारा अमरत्व की ओर बढ़ते रहेंगे। जब जीवन तमसाच्छन्न हो जाता है, धर्म का ह्रास होने लगता है, तभी कोई न कोई तीर्थंकर अवतरित होते हैं, और अपनी पवित्र और प्रेरक उपदेश-वाणियों से जन-जन के हृदय में धर्म की ज्योति प्रज्ज्वलित कर जाते हैं।

जैन धर्म का यह चक्र अनादिकाल से चलता आ रहा है,

और इसी प्रकार अनन्त काल तक चलता रहेगा। जैन धर्म में इस अखण्डित काल-चक्र को दो भागों में विभक्त किया गया है। एक भाग को उत्सर्पिणी-काल और दूसरे भाग को अवसर्पिणी-काल कहते हैं। उत्सर्पिणी-काल में मनुष्य दुःख से सुख की ओर जाता है। इसलिए इस काल को विकास-काल भी कहते हैं। अवसर्पिणी-काल उसे कहते हैं, जो मनुष्यों को वृद्धि से ह्रास की ओर ले जाता है।

जिस प्रकार मशीन की गरारी के दो पहिए होते हैं, उसी प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी भी काल-चक्र के दो पहियों के समान हैं। जिस प्रकार पहियों में आरे होते हैं, उसी प्रकार काल-चक्र के इन दोनों पहियों में भी छह-छह आरे माने जा सकते हैं। प्रत्येक आरे का नाम, उसके गुणों को दृष्टि में रख-कर, इस प्रकार निश्चित किया गया है—

अवसर्पिणी-काल के आरों का क्रम इस प्रकार है :

१. सुखमा सुखमा—अत्यन्त सुख रूप।
२. सुखमा—सुखरूप।
३. सुखमा दुखमा—सुख-दुख रूप।
४. दुखमा सुखमा—दुख-सुख रूप।
५. दुखमा—दुख रूप।
६. दुखमा दुखमा—अत्यन्त दुख रूप।

उत्सर्पिणी-काल के आरों का क्रम ठीक इसका उल्टा है, अर्थात् वह दुखमा दुखमा से आरम्भ होता है और सुखमा सुखमा पर समाप्त हो जाता है।

इन आरों की पारस्परिक काल-सीमा इतनी बड़ी होती है

कि उसे संख्याओं में नहीं प्रकट किया जा सकता। प्रत्येक चक्र में २४ तीर्थंकर प्रकट होते हैं। आजकल अवसर्पिणी-चक्र का युग है। हम लोग उसके पांचवें आरे से होकर आगे बढ़ रहे हैं। इसी चक्र के तीसरे आरे में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का आविर्भाव हुआ था। तीसरे आरे के समाप्त होने में जब तीस वर्ष, आठ मास, पन्द्रह दिन शेष रह गए, वह निर्वाण को प्राप्त हो गए।

तीर्थंकर ऋषभदेव के पश्चात् जब चौथे आरे का युग आया, तो उसमें शेष २३ तीर्थंकरों का आविर्भाव हुआ। भगवान महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे। तीर्थंकर ऋषभदेव ही इस काल-चक्र में जैन धर्म के आदि-प्रणेता और नीति-निर्माता माने जाते हैं।

तीर्थंकर ऋषभदेव का आविर्भाव कब हुआ, इस सम्बन्ध में कुछ ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। उनका आविर्भाव चिर-प्राचीन-काल में हुआ माना जाता है। जैन-शास्त्रों में उनके आविर्भाव-काल को युगल-काल की संज्ञा दी गई है; क्योंकि उस काल में मनुष्य का पारस्परिक सम्पर्क 'नर' और 'नारी' को छोड़कर और कुछ नहीं था।

तीर्थंकर ऋषभदेव के पिता का नाम महाराज नाभि और माता का नाम मरुदेवी था। भगवान ऋषभदेव की बाल्यावस्था किस प्रकार व्यतीत हुई, उनकी शिक्षा-दीक्षा कहां और किस प्रकार हुई—इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कह सकना अत्यन्त दुष्कर है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि उनके दो विवाह हुए थे। उनकी दोनों पत्नियों में एक का

नाम सुनन्दा और दूसरी का नाम सुमंगला था। उनकी दोनों पत्नियों से दो कन्याएं और सौ पुत्र पैदा हुए थे। पुत्रों में भरत और बाहुबली अधिक बलवान और प्रतापी थे। यह वही भरत हैं, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है। भरत ही भारतवर्ष के आदि-सम्राट् थे।

भगवान ऋषभदेव के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि उन्होंने एक सहस्र वर्षों तक कठिन तप करके 'पूर्ण ज्ञान' प्राप्त किया था। भगवान ऋषभदेव ही वह प्रथम महामानव थे, जिन्होंने उच्च कोटि की सामाजिक व्यवस्थाएं स्थापित कीं। उन्होंने ही सर्वप्रथम कलाओं का निर्माण किया और उन्होंने ही सर्वप्रथम अपनी पुत्री 'ब्राह्मी' को लिपि की शिक्षा दी। आज भी उनकी पुत्री के नाम पर वह लिपि 'ब्राह्मी लिपि' के नाम से विख्यात है।

इस प्रकार समाज, राष्ट्र और कुटुम्ब की नींव डालने का श्रेय भगवान ऋषभदेव को ही है। भगवान ऋषभदेव युग-परिवर्तनकारी महामानव थे। प्राणी मात्र के कल्याणार्थ ही उनका आविर्भाव हुआ था। भगवान ऋषभदेव की अभ्यर्थना विभिन्न ग्रन्थों में श्रेयस्कर शब्दों में की गई है। ऋग्वेद में भगवान के 'स्तव' के सम्बन्ध में निम्नांकित पंक्तियां व्यवहृत की गई हैं—"हे ऋषभनाथ, सम्राट्, संसार में जगत्-रक्षक व्रतों का प्रचार करो। तुम्हीं इस अखंड पृथ्वी-मण्डल के सार हो, त्वचा रूप हो, पृथ्वी-तल के भूषण हो, और तुमने ही अपने दिव्य-ज्ञान द्वारा आकाश को नापा है।"

श्रीमद्भागवतकार ने भगवान ऋषभदेव का स्मरण इस प्रकार किया है—"हे परीक्षित, सम्पूर्ण लोक, देव, ब्राह्मण और गौ के परम गुरु भगवान ऋषभदेव का यह विशुद्ध चरित्र मैंने तुम्हें सुनाया है। यह चरित्र मनुष्यों के समस्त पापों को नष्ट करने वाला है।"

श्रीमद्भागवत में भगवान ऋषभदेव के सम्बन्ध में और भी अत्यधिक ऊंचे विचार मिलते हैं। एक स्थान पर भगवान ऋषभदेव की अभ्यर्थना इस प्रकार की गई है—"ऋषभदेव आत्म-स्वभावी थे। अनर्थ परम्परा के पूर्ण त्यागी थे। वह केवल अपने ही आनन्द में लीन रहते थे तथा अपने ही स्वरूप में विचरण करते थे।"

एक दूसरे स्थान पर भगवान ऋषभदेव की चर्चा इस प्रकार की गई है—"ऋषभदेव साक्षात् ईश्वर थे। सर्व-समता रखते, सर्व-प्राणियों से मित्र-भाव रखते और सब पर दया करते थे।"

भगवान ऋषभदेव के उपदेश बड़े मर्मस्पर्शी और प्रेरक हैं। भगवान के पुत्रों में जब भरत को सारा राज्य प्राप्त हो गया और ९९ पुत्रों को कुछ नहीं मिला, तब वे बड़े दुखी हुए। वे सब मिलकर भगवान ऋषभदेव की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने अपने मन का गहरा क्षोभ प्रकट किया। भगवान ऋषभदेव ने राज्य के प्रति अपने पुत्रों की गहरी आसक्ति देखकर उन्हें परम कल्याणकारी उपदेश दिए। उन उपदेशों से भी उनकी भगवत्ता ही प्रकट होती है। उनके उन उपदेशों में कुछ का सार इस प्रकार है—

१. हे पुत्रो, मानवीय संतानो, जगत् में शरीर ही दुखों का

घर है। वह भोगने योग्य नहीं है। शरीर को माध्यम बनाकर तप करो। तप से ही अन्तःकरण पवित्र होता है। अन्तःकरण पवित्र होने से ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है।

२. जो इन्द्रियों और प्राणों के सुख के लिए तथा वासनाओं की संतृप्ति के लिए परिश्रम करता है, उसे हम श्रेयस्कर नहीं मानते; क्योंकि शरीर की समता भी आत्मा के लिए क्लेश-दायक है।

३. विषयों की अभिलाषा ही अन्ध-कूप के समान है; अन्ध-कूप में जीव को पटकने वाली है।

४. अग्नि-होत्र में वह सुख नहीं है, जो आत्मयज्ञ में है।

५. हे पुत्रो, जो स्थावर और जंगम जीवों को भी मेरे समान ही समझता है, और कर्मावरण से भेद को पहचानता है, वही धर्म प्राप्त करता है। धर्म का मूल-तत्त्व सम-दर्शन है।

६. साधु जब तक आत्म-स्वरूप को नहीं जानता, तब तक वह कुछ नहीं जानता। वह कोरा अज्ञानी है। जब तक वह कर्म-काण्ड में फंसा रहता है, तव तक आत्मा और शरीर का संयोग छूटता नहीं है, और मन के द्वारा कर्मों का बंध भी रुकता नहीं है।

७. जो सद्ज्ञान प्राप्त करके भी सदाचार का पालन नहीं करते, वे विद्वान् प्रमादी बन जाते हैं। मनुष्य अज्ञान-भाव से ही मैथुन-भाव में प्रवेश करता है और अनेक संतापों को प्राप्त करता है।

कहते हैं, बाहुबली ने भरत के अधीन रहना अस्वीकार कर दिया। उन दोनों का आपस में घोर युद्ध भी हुआ। उसी

समय बाहुबली को ज्ञान प्राप्त हुआ, 'यह संसार नश्वर है, इसके लिए लड़ाई क्यों ?'—और उसी क्षण वह वैराग्य लेकर तप में लीन हो गए और आत्म-चिन्तन में लग गए। अन्त में मोक्ष को प्राप्त हुए। मैसूर राज्य में बाहुबली की एक ही पत्थर से बनी ५७ फुट ऊंची मूर्ति आज संसार की अत्यन्त प्राचीन मूर्तियों में सबसे ऊंची मानी जाती है।

भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर स्वामी तक कुल २४ तीर्थंकर हुए हैं। उन तीर्थंकरों के नाम और उनके जन्म-स्थान इस प्रकार हैं :

	तीर्थंकर का नाम	जन्म-स्थान
१.	श्री ऋषभदेव जी	अयोध्या
२.	श्री अजितनाथ जी	अयोध्या
३.	श्री संभवनाथ जी	श्रावस्ती
४.	श्री अभिनन्दननाथ जी	अयोध्या
५.	श्री सुमतिनाथ जी	अयोध्या
६.	श्री पद्मप्रभु जी	कौशाम्बी
७.	श्री सुपार्श्वनाथ जी	काशी
८.	श्री चन्द्रप्रभ जी	चन्द्रपुरी
९.	श्री पुष्पदन्त जी	काकन्दी
१०.	श्री शीतलनाथ जी	मद्दलपुर
११.	श्री श्रेयांसनाथ जी	सिंहपुरी-सारनाथ
१२.	श्री वासुपूज्य जी	चम्पापुरी

१३.	श्री विमलनाथ जी	कम्पिला
१४.	श्री अनन्तनाथ जी	अयोध्या
१५.	श्री धर्मनाथ जी	रत्नपुरी
१६.	श्री शान्तिनाथ जी	हस्तिनापुर
१७.	श्री कुन्थुनाथ जी	हस्तिनापुर
१८.	श्री अरहनाथ जी	हस्तिनापुर
१९.	श्री मल्लिनाथ जी	मिथिलापुरी
२०.	श्री मुनिसुव्रतनाथ जी	राजगृह
२१.	श्री नमिनाथ जी	मिथिला
२२.	श्री अरिष्ट नेमिनाथ जी	शौरीपुर
२३.	श्री पार्श्वनाथ जी	काशी
२४.	श्री महावीर स्वामी जी	कुंडग्राम—वैशाली

इन सम्पूर्ण तीर्थंकरों ने कठोर-से-कठोर तप करके दिव्य-ज्ञान प्राप्त किया था। सभी ने प्रव्रज्या लेकर, संसार को अपने दिव्य-ज्ञान से आलोकित किया था। उन्होंने अनेक गिरे हुए प्राणियों को ऊपर उठाया, अनेक को नव-प्राण दिया और अनेक के हृदय में ज्ञान का दीपक जलाकर उन्हें जीवन के वास्तविक सुपथ पर चलाया। युग बीत गए हैं, पर ये सभी तीर्थंकर अपने लोकोपकारी कार्यों से आज भी दिव्याभा के रूप में कोटि-कोटि मानवों के हृदय में ज्योतित हो रहे हैं और इसी प्रकार सदा-सदा ज्योतित रहेंगे।

चौबीस तीर्थंकरों में अन्तिम तीन तीर्थंकरों के विषय में

अधिक जानकारी मिलती है। उनके नाम हैं तीर्थंकर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर स्वामी।

भगवान नेमिनाथ का जन्म शौरीपुर में हुआ था। उनके पिता का नाम समुद्रविजय और माता का नाम शिवा था। समुद्रविजय यदुवंश के प्रतापी नृपति थे। उनका प्रताप और शौर्य दिग्-दिगन्त में व्याप्त था।

भगवान नेमिनाथ विवाह के अवसर पर ही विरक्त हो गए थे। इस सम्बन्ध में एक प्राण-प्रेरक घटना का उल्लेख मिलता है। भगवान नेमिनाथ जी का विवाह उग्रसेन की पुत्री राजमती के साथ होने जा रहा था। बारात श्वसुर-गृह की ओर जा रही थी। अरिष्ट नेमिनाथ जी वर के रूप में थे। सहसा मार्ग में उन्हें पशुओं की करुणा से भरी हुई चीत्कार सुनाई पड़ी। उन्होंने अपने सारथि से प्रश्न किया—"सारथि, यह कैसी करुण चीत्कार है ?"

सारथि ने उत्तर दिया—"महाराज, यह उन पशुओं की करुण चीत्कार है, जिनका मांस बारातियों को परोसा जाएगा।"

नेमिनाथ जी का हृदय दुःख से भर उठा। उन्होंने आज्ञा देकर उन पशुओं को मुक्त करा दिया। पर इस घटना ने उनके हृदय-प्राणों को आन्दोलित कर दिया। संसार की बीभत्सता का चित्र उनकी आंखों के सम्मुख चित्रित हो गया। उन्होंने विवाह-बंधन में बंधना अस्वीकार कर दिया। वह मोह और आसक्ति के संपूर्ण बंधनों को तोड़कर घर से निकल गए। उन्होने गिरनार पर्वत पर कठोर तप करके दिव्य-ज्ञान प्राप्त किया। उनका दिव्य-ज्ञान आज भी जन-जन के मानस को अपनी ज्योति से

आलोकित कर रहा हैं। आज भी गुजरात राज्य में गिरनार पर्वत पर भगवान नेमिनाथ की मूर्ति विराजमान है और लाखों भक्तजन वहां दर्शन कर पुण्य-लाभ उठाते हैं।

भगवान पार्श्वनाथ जी का जन्म काशी में हुआ था। उनके पिता का नाम महाराज अश्वसेन और माता का नाम वामादेवी था। महाराज अश्वसेन नागवंशी नृपति थे। पार्श्वनाथ जी जन्मजात विरक्त थे। वे दिव्य-ज्ञान लेकर अवतीर्ण हुए थे। उनके हृदय में जन्मजात अलौकिक विशिष्टताएं और शक्तियां थीं। जब वह राजकुमार पद को सुशोभित कर रहे थे, एक दिन उन्होंने गंगा-तट पर एक ऐसे साधु को देखा, जो धूनी जलाकर अग्नि ताप रहा था। पार्श्वनाथ जी बोल उठे—'तुम्हारी धूनी की लकड़ी में नाग-नागिन का एक जोड़ा भी जल रहा है।" साधु पार्श्वनाथ जी पर क्रुद्ध हो उठा। किन्तु जब उसने उस लकड़ी को चीरकर देखा, तो सचमुच उसके भीतर नाग-नागिन का एक जोड़ा मौजूद था।

उन्होंने लगभग सत्तर वर्षों तक, सारे भारत में घूम-घूमकर अहिंसा का प्रचार किया था। सौ वर्ष की अवस्था में उन्हें महा-निर्वाण प्राप्त हुआ। बिहार राज्य में पारसनाथ नाम से एक पर्वत है, जहां भगवान पार्श्वनाथ तथा अन्य अठारह तीर्थंकर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। यह स्थल आज बड़ा तीर्थ बन गया है। हज़ारों-लाखों लोग इस तीर्थ की वन्दना करने देश-विदेश के कोने-कोने से आते हैं और पहाड़ी पर बने मन्दिरों में भगवान के चरणों को प्रणाम कर अपना जीवन सफल बनाते हैं। इस

तीर्थ को 'शिखर जी' अथवा 'सम्मेद शिखर' भी कहते हैं। रेलवे स्टेशन का नाम भी 'पारसनाथ' ही है। ऐसी महान विभूतियों का नाम लेने मात्र से आत्मा की शुद्धि का मार्ग खुलता है, और मनुष्य को सच्चा सुख प्राप्त होता है।

भगवान महावीर : एक महानतम विभूति

भगवान महावीर एक महानतम विभूति थे। वह थे, हैं और सदा रहेंगे। युग आये, चले गए। युग आएंगे और चले जाएंगे, पर महावीर स्वामी की कीर्ति-गाथा धरती पर सदैव गूंजती रहेगी। वह देवों के भी देव थे, अमरों के भी श्रद्धा-पात्र थे। देवता भी उनकी वन्दना करते थे, उनके यशोगान से अपने मन-मानस को पवित्र करते थे। देवताओं के अधिपति इन्द्र भी उनके पास आकर अपनी शंकाओं का निवारण करते थे। ऋद्धियां-सिद्धियां उनके चरणों पर लोटती थीं। पर भगवान महावीर ने इन बातों को कभी महत्त्व नहीं दिया। यद्यपि अलौकिक शक्तियां उन्हें प्राप्त थीं, साथ ही उनके भीतर देवताओं की विभूतियां विद्यमान थीं, किन्तु वह उनकी ओर से आंखें मूंदकर सदा पवित्राचरण के कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलने को ही श्रेयस्कर मानते थे। वह लोक-कल्याण के लिए निरन्तर साहसपूर्ण कदम उठाते रहे, कार्य करते रहे, अपने

पवित्र आचरणों और दिव्य-ज्ञान की ज्योति से जन-जन के हृदय को आलोकित करते रहे। वह अपने आचरणों और देवोपम व्यवहारों से ही महान् बने। इतने महान् कि भगवत्ता के स्वर्ण-सिंहासन पर आसीन हो गए। आज कोटि-कोटि मानव उन्हें वीतराग भगवान मानकर ही उनकी पूजा करते हैं, उनके पवित्र चरणों में अपनी श्रद्धा निवेदित करते हैं।

भगवान महावीर का जन्म धरती पर लोक-कल्याण के लिए ही हुआ था। दूसरे शब्दों में, वह स्वयं ईश्वर के प्रतिरूप थे, ईश्वर थे। पर उन्होंने कभी अपनी भगवत्ता का प्रदर्शन नहीं किया, कभी अपने को भगवान नहीं कहा, कभी अपनी उन शक्तियों को प्रकट नहीं किया, जो उनके भीतर विद्यमान थीं। इसके प्रतिकूल वह कांटों की राह पर चलकर, यंत्रणाओं को सहते हुए सदा जीवन के लिए प्रशस्त राह बनाते रहे। उन्होंने कठिन-से-कठिन तप करके, कामनाओं-वासनाओं से युद्ध करके, आसक्तियों से संघर्ष करके लोक-कल्याण की एक ऐसी उज्ज्वल राह ढूंढ निकाली, जिस पर चलकर मनुष्य सचमुच वास्तविक सुख को प्राप्त कर सकता है, नैसर्गिक शान्ति का अनुपम रसास्वादन कर सकता है। वह सच्चे कर्मयोगी, महान् दार्शनिक, आत्मदृष्टा और जीवन-क्षेत्र के अमर योद्धा थे। उनके नाम के साथ उनका 'महावीर' विशेषण इसीलिए उपयुक्त है। विश्व में बड़े-बड़े युद्धों के विजेता तो बहुत-से हुए हैं, किंतु वह कामनाओं और वासनाओं के युद्ध में अप्रतिम शौर्य प्रकट करके विजयी हुए और 'महावीर' कहलाए।

भगवान महावीर जन्म से ही आत्मदृष्टा थे, पर वह अपनी

महानता अंतर् में छिपाकर अपने आचरणों के द्वारा पवित्र सोपानों का निर्माण करते रहे। वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में से होकर निकले। उन्होंने जीवन के जिस किसी क्षेत्र में प्रवेश किया, उसमें अपने आचरण और व्यवहारों का मान-बिन्दु स्थापित किया। उन्होंने स्वयं लोक-कल्याण के लिए कष्ट सहे, और अपने अनुगामियों को भी लोक-कल्याण के लिए कष्ट सहने की सलाह दी। उनके मार्ग में बड़ी-बड़ी बाधाएं आयीं, बड़े-बड़े विघ्न आए। दानवों ने उन्हें आगे बढ़ने से रोका, पर वह सबको पराजित करके निरन्तर आगे बढ़ते गए, और इतना आगे बढ़ गए कि भगवान बन गए। सब में रमते हुए, सबसे ऊपर पहुंचने की उनकी महानता का वन्दन करते हुए एक जैनाचार्य ने ठीक ही लिखा है— 'प्रभो, दूसरे दार्शनिक आपके चरण-कमल में इन्द्र के घुटने टेकने की बात भले ही न मानें, अथवा अपने दर्शन-नायक को भी पूज्य बताएं, किन्तु आपकी वाणी में जो यथार्थ रस है, उसे न कोई ढांप सकता है, और न कोई उसकी बराबरी कर सकता है।"

भगवान महावीर के जीवन का एक महान लक्ष्य था। वह जीवन में उठना चाहते थे। वह आत्मा थे, परमात्मा हो जाना चाहते थे। जीवन के प्रथम चरण से ही वह अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होने लगे। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उन्होंने समता, सहिष्णुता, अभय, अहिंसा और अनासक्ति, आदि गुणों को संबल के रूप में ग्रहण किया। वह अपने इन्हीं संबलों-साधनों की शक्ति से विघ्न-बाधाओं से संघर्ष करते हुए आगे बढ़े और अपने लक्ष्य को प्राप्त करके कोटि-कोटि मनुष्यों

की श्रद्धा के पात्र बने।

महावीर स्वामी की भगवत्ता अहंकार से रहित थी। वह महान् होते हुए भी सबके समान ही थी। वह सर्वोच्च होते हुए भी सबको स्पर्श करती थी। उसमें आत्मा की व्यापकता थी, प्रशंसनीय समता थी। उसमें गरीब-अमीर, राजा-रंक सब डूब गए थे, वह एक ऐसा धरातल थी, जिसमें सभी रंग के, सभी वर्णों के, सभी जाति के मनुष्य समान-भाव से निवास करते थे। उसमें सबके लिए प्रेम था, स्नेह था, दया थी, सहानुभूति थी, ममता थी। अपनी इसी सम-भावना से वह महान थी, उसने सर्वेश्वर की उस अनन्तता को भी समझ लिया था, जिसमें सारे ब्रह्माण्ड, ग्रह और उपग्रह समाविष्ट हैं।

महावीर स्वामी ने कभी अपने लिए किसी वस्तु की कामना नहीं की। वह जीवन के प्रथम चरण से लेकर अंत तक कामनाओं के ही जाल को तोड़ते रहे, छिन्न-भिन्न करते रहे। वह ऐहिक सुखों और भोगों को तजकर जीवन के पथ पर चले। जिस दुख को संसार छोड़कर चलता है, जिस दुख से जगत् भयभीत रहता है, उन्होंने सहर्ष उसे अंगीकार किया—अपने महान् पुरुषार्थ से उसे परास्त किया। कितनी ही बार संसार के दुखों ने दानव की भांति आगे बढ़कर उनकी गति को रोका, उनके पथ में शिलाएं बिछायीं, पर वह एक क्षण के लिए भी विमुख न हुए। वह अपने अजेय पौरुष का केतु हाथ में लेकर आगे बढ़ते गए, त्रिविध तापों को पछाड़ते गए। धन्य था उनका पौरुष! वन्दनीय था उनका साहस! उनके पौरुष और साहस ने ही तो उन्हें जन-जन के हृदय में महावीर के रूप में प्रतिष्ठित

किया। आज वह अपने इसी रूप में जन-जन से चर्चित और अर्चित किए जाते हैं।

महावीर स्वामी अद्वितीय निर्भीक थे। उनके मन में, प्राण में भय का नामोनिशान तक न था। सर्प, बिच्छू, सिंह, बाघ, अस्त्र-शस्त्र आदि जिनसे मनुष्यमात्र कम्पित हो जाता है, महावीर स्वामी के लिए खेल और मनोरंजन के साधन थे। वह सब के बीच में निर्भय घूमते थे—विचरण करते थे। जरा, रोग और दुखों को भी उनकी ललकार थी। जरा, रोग और शारीरिक अवस्थाओं के उस घेरे को, जिसमें फंसकर प्राणी हाहाकार करता रहता है, महावीर स्वामी तोड़कर ही चले और सदा चलते रहे। उन्होंने मृत्यु के द्वार पर भी अपनी विजय का झंडा गाड़ दिया था। वह अविजित थे। जरा, मृत्यु, रोग, मन की स्थितियां, कामनाएं—कोई भी उन्हें अपने बंधन में न बांध सका। उनकी इस अजेयता ने ही उन्हें भगवत्ता के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। आज घर-घर में उनका वंदन उनकी अपनी अजेयता के ही कारण होता है।

महावीर स्वामी अहिंसा के अवतार थे। उनमें और अहिंसा में सम-सादृश्य था। वह स्वयं अहिंसा थे और अहिंसा स्वयं महावीर स्वामी थी। पर उनकी अहिंसा में आग्रह नहीं था, उद्दण्डता नहीं थी। इसके विपरीत उनकी अहिंसा अभय, और समता के भावों से उल्लसित थी। उसमें दया, प्रेम और विनम्रता को छोड़कर और कुछ नहीं था। उनकी अहिंसा ने बिना किसी भय के बड़े-बड़े हिंसकों को भी बांध लिया था। उनकी

विनम्रता ने उन्हें प्राणी-मात्र का मित्र बना दिया था। वह भगवत्ता के स्वर्ण-सिंहासन पर आसीन हुए। आज वह हृदय-हृदय में अपने इसी रूप में वन्दित किए जाते हैं।

उन्होंने तप करके अतुल शक्ति प्राप्त की। अपने तप की अतुल शक्ति से आसक्तियों के मोह के पर्दे को चीर डाला। उनका कोई अपना न था, और सब अपने थे। उन्हें किसी से आत्म-रति नहीं थी, और सबसे आत्म-रति थी। वह किसी के प्रेम-पाश में न बंधकर सबके स्नेह-पाश में बंधे हुए थे। विश्व ही उनका घर था, विश्व के समस्त प्राणी ही उनके अपने कुटुम्बी थे। वह जो करते थे, विश्व के लिए करते थे, विश्व के समस्त प्राणियों के लिए करते थे। उनके इस व्यापक दृष्टिकोण ने उन्हें परमोज्ज्वल और कीर्तिमान् बना दिया था। मनुष्य रूप में उन्होंने जन्म लिया था, पर आज वह अपनी विशिष्टताओं के कारण कोटि-कोटि प्राणियों के पूज्य बन गए।

धन्य थे वह और धन्य था उनका महान् व्यक्तित्व !

धरती का रोदन—धरती के आंसू

संसार में कभी-कभी धरती भी रोने लगती है। उसके नेत्रों से झर-झर दुःख के आंसू गिरने लगते हैं। धरती अब तक कई वार रो चुकी है। कई बार अपने आंसुओं से महापुरुषों के चरण धो चुकी है। जब-जब धरती पर पाप और अत्याचार बढ़े, महान आत्माओं ने जन्म लिया। भगवान राम, कृष्ण, बुद्ध, मुहम्मद और महात्मा ईसा का अवतरण ऐसे समय में ही हुआ। सबने अपने-अपने ढंग से मानव समाज को राह दिखाई, संसार के दुःखों को दूर करने का बीड़ा उठाया। तभी तो आज संसार के लोग इन महान आत्माओं को याद करते हैं। भगवान महावीर का आविर्भाव भी ऐसे समय में ही हुआ। धरा पर चारों ओर अंधेरा छाया हुआ था। लोगों को रास्ता ही नही सूझता था। उनके आगमन से धरती मुसकरा उठी।

महावीर स्वामी के आविर्भाव के लिए धरती ने किस प्रकार की पुकार की थी, इस बात को ठीक-ठीक समझने के

लिए उस स्थिति-चित्र पर दृष्टि डालनी होगी, जो महावीर स्वामी के आविर्भाव के पूर्व धरती पर चित्रित था, और जिसके कारण चारों ओर पीड़ा और दुःख का ज्वार-सा उठ रहा था।

प्रायः पचीस-छब्बीस शताब्दी पूर्व की बात है। पृथ्वी के अंचल से शनैः-शनैः सुख की मणियां लुप्त होती जा रही थीं। दुःख की काली छाया धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी। दुःख भी एक प्रकार का नहीं, विभिन्न प्रकार का—शारीरिक दुख, मानसिक दुख, नैयायिक दुःख, सामाजिक दुख और घरेलू दुख आदि। देश में धन था, सम्पन्नता थी, खाने-पीने का अभाव भी नहीं था; पर कुछ लोगों तक ही सीमित था। कुछ लोग तो बड़े सुख और आनन्द के साथ जीवन व्यतीत कर रहे थे, पर अधिकांश लोग या तो गरीब थे, या अमीरों और बड़े-बड़े भूस्वामियों के यहां दास-रूप में जीवन व्यतीत कर रहे थे। दासों और सेवकों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं होता था। उन्हें नीची दृष्टि से देखा तो जाता ही था, अत्याचार की आग में जलाने से भी संकोच नहीं किया जाता था।

धनाढ्य कहे जाने वाले लोगों के पास अर्थ अधिक था, वे दूर-सुदूर देशों में घूम-घूमकर व्यापार भी खूब करते थे, पर उनमें विलासिता पांव फैला रही थी। उनका सारा धन विलासिता और पापकर्मों के प्रचण्ड अग्निकुण्ड में ही आहुति बना करता था। वे अपनी पाप-पूर्ण वासना की सम्पूर्ति के लिए कोई भी जघन्य कार्य करने के लिए तैयार रहते थे। फलतः चारों ओर बीभत्सता, कलुषता का धुआं उठ रहा था। इस धुएं से धरती काली हो गई थी। आकाश धूमिल हो गया था। लोगों

का दम घुट रहा था। लोग बड़े ही दुख के साथ 'पाहिमाम्, पाहिमाम्' का स्वर ऊंचा कर रहे थे।

स्त्री-पुरुष दोनों ही नीति और धर्म का आंचल छोड़ चुके थे। दोनों ही कामुकता के पंक में फंसे हुए थे। स्त्रियों में पातिव्रत, शील और संकोच का नाम तक नहीं था। वे बंधनों को तोड़ चुकी थीं, लज्जा के आवरण उतारकर फेंक चुकी थीं। पुरुषों में दानवी वासना का प्राबल्य था। वे आचार, विचार, शील, संयम को छोड़कर केवल वासना-सम्पूर्ति को ही अपना धर्म मानने लगे। चारों ओर बलात्कार और अपहरण की आंधी उठ रही थी। बलात्कार और अपहरण के फलस्वरूप चारों ओर से रोदन, चीत्कार और क्रन्दन का हृदय-कम्पक स्वर उठ रहा था। नगर के सार्वजनिक स्थानों-गृहों, सभागृहों और नाट्य-शालाओं से भी ऐसे स्वर उठा करते थे; क्योंकि ये सभी स्थान पाप के अड्डे बन गए थे; जब किसी का कहीं वश न चलता तो वह इन स्थानों में पहुंचकर अपनी वासनाओं का नग्न नाच किया करता था।

लोगों का ध्यान मन, प्राण और आत्मा की धवलता की ओर से हटकर शरीर पर ही केन्द्रित हो गया था। लोग शरीर को ही सर्वस्व मानने लगे थे। पूजा, पाठ, यज्ञ, कीर्तन, साधना आदि को लोग छोड़ चुके थे, दिन-रात वे शारीरिक सुखों की पूर्ति के लिए ही प्रयत्नशील रहते थे। फलतः कृत्रिमता, आडम्बर और दिखावे का प्राबल्य था। पशु-वध और मदिरापान जोरों पर था। जुआ भी खूब होता था। मदिरा, द्यूत-क्रीड़ा और चरित्र भ्रष्टता—तीनों ने परस्पर मिलकर धरती को यन्त्रणा का लोक

बना दिया था।

एक लेखक ने तत्कालीन सामाजिक स्थितियों का चित्रण इन शब्दों में किया है—"ब्राह्मण-वर्ग हिंसा से भरे हुए यज्ञों को करने में ही मग्न था। यज्ञों की वेदिकाओं को पशुओं के रक्त से लाल कर दिया जाता था। मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए भी देवी-देवताओं को बलि दी जाती थी। वर्णाश्रम धर्म का अर्थ लोग अपने स्वार्थों को ही दृष्टि में रखकर लगाते थे। ब्राह्मण अपने को सबसे अधिक ऊंचा और पवित्र समझते। अपने को ऊंचा और पवित्र तो समझते ही थे, दूसरों को हेय समझते थे। जिन्हें हेय समझते थे, उन पर भांति-भांति के अत्याचार भी किया करते थे। स्त्रियों और शूद्रों का समाज में कोई स्थान न था। उन्हें लोग बहुत ही नीची दृष्टि से देखते थे। चाण्डालों का तो राह में चलना कठिन था। ब्राह्मणों और वैश्यों की स्त्रियां, यदि राह में चाण्डाल को देख लेती थीं तो वे इस बात को बड़ा अपशकुन मानतीं। चाण्डालों के दर्शन मात्र से वे नहा-कर अपने को शुद्ध करती थीं। कभी-कभी चाण्डाल उच्च वर्ग-के मनुष्यों के सामने पड़ने के कारण पशुओं के समान पीटे जाते थे।"

एक अन्य लेखक ने तत्कालीन सामाजिक स्थिति का चित्रण इस प्रकार किया है—"दान और यज्ञों का प्रचार पाप-पूर्ण कर्मों को बढ़ावा दे रहा था। बलि-प्रथा का प्राबल्य था। ढोंग और पाखंड ने ज्ञान को ढांप लिया था। चारों ओर वासनाओं की ही आंधी चल रही थी। अन्याय और अधर्म का बोलबाला था। देश छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। देश

में ऐसा कोई प्रबल-प्रतापी नृपति नहीं था, जो सबको दबाकर एक सूत्र में पिरोता, न्याय और शान्ति के राज्य की स्थापना करता।"

स्वयं जैन-धर्म के माननेवाले भी हीनावस्था को पहुंच गए थे। धर्म के नाम पर समाज में अनेक प्रकार के मत-मतान्तर फैले हुए थे। एक विद्वान् के मतानुसार उन दिनों समाज में तीन सौ तिरसठ मत-मतान्तर थे, जो जन-समुदाय को कसकर जकड़े हुए थे। लोगों का ध्यान आत्मा की ओर से हटकर, चमत्कारों और अलौकिक शक्ति-प्रदर्शनों की ओर केन्द्रित हो गया था। जो सबसे अधिक चमत्कारी होता, वही सबसे बड़ा जपी-तपी और साधु-महात्मा समझा जाता था।

ऊपर के सामाजिक चित्रों से स्पष्ट हो जाता है कि महावीर स्वामी के आविर्भाव के पूर्व धरती पर चारों ओर पाप का धुआं उठ रहा था! मानव-समाज का दम इस विषैले धुएं के प्रभाव से घुटता जा रहा था। जन-जन के अन्तर से 'रक्षा करो—रक्षा करो' की ध्वनि उठ रही थी। जनता की, धरती की इस करुण पुकार के प्रतिफलस्वरूप ही महावीर स्वामी का आविर्भाव हुआ। महावीर स्वामी ने धरती पर अवतरित होकर जनता के दुखों को दूर किया, पाप के धुएं को दूर करके एक नया आलोक फैलाया। उसी आलोक से तो आज मानव-समाज जगमगा रहा है, ज्योतित हो रहा है।

वह पुण्य देश, वह पुण्य धरा

वह देश, वह धरा धन्य है, वन्दनीय है, जिसकी गोद में महामानव अवतरित होते हैं। यों महामानवों की कई श्रेणियां होती हैं और उनके आविर्भाव से लोक में कल्याण की चांदनी छिटकती है, पर वे महामानव प्रणम्य हैं जो धरती पर उत्पन्न होकर मानव के अन्तर्जगत् का निर्माण और शृंगार करते हैं। क्योंकि मानव-जगत् में वास्तविक सुख और शान्ति की धारा उसी समय प्रवाहित हो सकती है जब मनुष्य का मन पवित्र होगा, जब उसके अन्तःकरण से 'स्वार्थ' की रति दूर होगी और जब वह अपनी आत्मा के रूप को देखेगा। जो महामानव धरती पर उत्पन्न होकर मनुष्य के मन को इस ओर प्रेरित करते हैं, उसकी प्रवृत्तियों को अन्तर् की ओर ले जाते हैं, वे सचमुच मानव-मन के मसीहा होते हैं, सुख और शान्ति के अवतार होते हैं। ऐसी विभूतियां जब और जहां जन्म लेती हैं, धरती स्वर्ग के सदृश सुखदायिनी बन जाती है।

राजनीतिक और सामाजिक महापुरुष आते हैं, मनुष्य के मन को हिलाकर चले जाते हैं। वे अपने सिद्धान्तों, वादों और मतों से मानव-समाज को जगा अवश्य देते हैं पर साथ ही वे वासनाओं, कामनाओं और स्पर्धाओं के सागर में ज्वार भी उत्पन्न करते हैं। फलतः समाज में 'द्वन्द्व' लिए राह बनती है, संघर्ष के लिए पथ प्रशस्त होता है। द्वन्द्वों और संघर्षों से भले ही भौतिक सुखों की उपलब्धि हो जाए, पर यह उपलब्धि स्थायी नहीं होती। द्वन्द्व और संघर्ष एक के पश्चात एक बराबर उठते ही रहते हैं। फलतः मनुष्यों को वह सुख और शान्ति नहीं मिलती, जिसकी उनके हृदय में प्यास रहती है। मनुष्य प्यासा का प्यासा ही रह जाता है। यही कारण है कि ऐसे मनुष्यों के जन्म-स्थान अधिक पवित्र नहीं समझे जाते। वे मनुष्यों के हृदय का आदर-सम्मान पाते हुए भी चिरस्थायी आदर-सम्मान के पात्र नहीं बनते।

पर वे महामानव जो कामनाओं से युद्ध करते हैं, जो मनुष्य के अन्तर्जगत् का शृंगार करते हैं, जहां भी जन्म लेते हैं, उस देश को, उस धरा को सुपावन बना देते हैं। दूसरे शब्दों में, यह कह सकते हैं कि वह देश और वह धरा एक तीर्थ बन जाती है, जहां उनका आविर्भाव होता है। एक सदी नहीं, दो सदी नहीं, युगों तक उस धरा की मिट्टी चन्दन की भांति महकती रहती है। कोटि-कोटि लोग उस धरा की मिट्टी में लोटकर अपने तन को सुपावन बनाते हैं, चन्दन की भांति अपने मस्तक पर लगाते हैं। अयोध्या, मथुरा, काशी, कुण्ड ग्राम, वैशाली और चम्पापुरी आदि ऐसे ही पवित्र स्थान हैं। इन स्थानों में

जन्म लेने वाले महामानवों ने धरती को सुख-शान्ति का जो आलोक प्रदान किया, धरती उसकी छाया में सहस्रों वर्षों तक अपने सौभाग्य-शृंगार का अक्षय-सुख भोग चुकी है। फलतः धरती इन स्थानों, इन तीर्थों को अपनी गोद में छिपाकर रखती है।

कितना वन्दनीय है वह देश, कितनी पूज्य है वह धरती, जिसकी गोद में महावीर स्वामी का आविर्भाव हुआ। महावीर स्वामी ने उस देश और उस देश की धरा में जन्म लेकर उसे स्वर्ग के समान सुपावन और महिमामय बना दिया। पुलकित हो उठी होगी वह धरती, जब पहले-पहले उसकी गोद में उनके चरण पड़े होंगे। शत-शत वसन्त खिल उठे होंगे, शत-शत देव-सरिताएं तरंगित हो उठी होंगी। हम धरती के उस सुख का अनुमान आज भीं लगा सकते हैं, उस श्रद्धा की त्रिवेणी को देख-कर जो आज भी उस पवित्र स्थान के कोटि-कोटि मनुष्यों के हृदय से निकलती है। सहस्रों वर्ष बीत गए हैं; पर आज भी प्रति वर्ष लक्ष-लक्ष मनुष्य महावीर स्वामी के जन्म-स्थान में पहुंचकर उसकी मिट्टी में लोटते हैं, चन्दन के समान उसे अपने मस्तक पर लगाते हैं। क्या है उस मिट्टी में ? उस मिट्टी में स्वर्ग का सुख है, निर्वाण का अनुपम आनन्द है। एक सदृश्य तीर्थ-यात्री ने उस आनन्द का चित्रण इन शब्दों में किया है, "मैं जब महावीर स्वामी के जन्म-स्थान, कुण्ड ग्राम में पहुंचा, तो मेरी आंखों के सामने एक दैवी विभूति साकार हो उठी। मैं कृत-कृत्य हो उठा। मन-ही-मन सोचने लगा, यही वह स्थान है जहां मृत्यु के विजेता भगवान महावीर ने जन्म लेकर धरती की गोद

को अक्षय सुख और शान्ति की मणियों से भर दिया था। इच्छा होती है उस स्थान की मिट्टी में लोट-लोटकर उन चरणों में समा जाऊं, जो अपनी प्रत्येक गति पर, प्रत्येक चिह्न पर सौ-सौ स्वर्ग बनाती थी।"

एक कवि ने अपनी श्रद्धा-भावनाओं का चित्रण इस प्रकार किया है—

कोई देख त्रुटि स्वर्ग-रचना में विधि के,
बसाया नया स्वर्ग क्या है चरण में ?
भुलाया है स्वर्गेश को क्या शची ने,
तुम्हारे खुले नग्न पग के वरण में।
जहां लोटने को हृदय चाहता है,
चरण चूमने को हृदय चाहता है।

वस्तुतः उस स्थान की मिट्टी में रह-रहकर लोटने को मन करता है। इसलिए लोटने को करता है कि उस स्थान में भगवान महावीर का प्राकट्य हुआ था। उन भगवान महावीर का प्राकट्य हुआ था, जिन्होंने अपने हृदय की पवित्रता का आवरण धरती के ऊपर डालकर उसे स्वर्ग के समान सुन्दर और पावन बना दिया था।

आइए, अब जरा उस देश और धरा का परिचय प्राप्त करें, जिसकी गोद में भगवान महावीर अवतरित हुए थे। बिहार प्रदेश की अपनी निराली ही छटा है। बिहार प्रदेश के अधिक भू-भाग को देवसरि गंगा अपने पवित्र जल से अभिसिंचित किया करती है। चारों ओर हरित और शस्य-श्यामला धरती की अनुपम छटा दिखाई पड़ती है। सोन और गण्डकी के कल-कल

निनाद से उसका कोना-कोना गुंजित होता रहता है। महावीर स्वामी, भगवान बुद्ध, अशोक, चन्द्रगुप्त, आदि महामानवों की कीर्ति का स्वर चारों ओर से उठता ही रहता है। पाटलि-पुत्र, राजगृह और वैशाली की गौरवपूर्ण गाथाओं से बिहार प्रदेश का भाल हिमालय की चोटियों से भी अधिक ऊंचा जान पड़ता है।

इसी बिहार प्रदेश के मुजफ्फरपुर जिले में बसाढ़ नामक गांव है। यह वही स्थान है, जिसके आस-पास कभी वैशाली नगर था। वह वैशाली नगर, जिसकी गौरव-गाथाएं आज भी प्राणों में पुलक पैदा करती हैं। वैशाली के आस-पास ही कुण्ड और वणिय नामक दो ग्राम स्थित थे। यद्यपि वे वैशाली के ही भाग थे, पर उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता थी। कुण्ड ग्राम को ही 'कुण्डलपुर' कहते हैं। इसी ग्राम की धरती को भगवान महावीर को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त है। यद्यपि आज वह ग्राम अपनी प्राचीन स्थिति में नहीं है, पर वह भूमि अवश्य है, जिसने भगवान महावीर को अपनी गोद में लेकर सुमधुर स्वरों में पवित्र लोरियों का गान किया था। आज भी अनुभव करने वालों के लिए उस धरा से वे सुरभित उच्छ्वास निकलते हैं, जो महावीर स्वामी के जन्म की प्रसन्नता में उसके हृदय में समा गए थे।

जब दिव्य-ज्योति धरा पर उतरी

धरती पर जब किसी दिव्य-ज्योति का आविर्भाव होने को होता है, तो असमय में ही धरती पर वसन्त छा जाता है। सूखे पेड़-पौधे हरीतिमा की चादर से ढंक जाते हैं। नदियों-नालों में जल उफान लेने लगता है। वृक्षों की गोद फूलों से भर जाती है और खेतों में अनाज की बालों से लदे हुए पौधे झूमने लगते हैं। पक्षियों का कंठ खुल जाता है। जन-जन के हृदय में उल्लास फूट पड़ता है। दैवी घटनाएं घटने लगती हैं। पवित्र-आचरण-सम्पन्न मनुष्यों को मंगलकारी, विचित्र-विचित्र स्वप्न होने लगते हैं। धरती और धरती के लोग उस दिव्य-ज्योति के आगमन की प्रसन्नता में स्वर्ग और स्वर्ग के देवताओं से होड़ लगाने लगते हैं।

भगवान महावीर के प्राकट्य के समय यह सब कुछ हुआ। उनके प्राकट्य के पूर्व से ही कुण्डलपुर के आस-पास की धरती उल्लसित हो उठी। ऋतुएं यथोचित समय पर आने-जाने लगीं।

ठीक समय पर वर्षा होने लगी। नदियों, सरोवरों और कुओं का नीर और मधुर हो गया। खेतों में अच्छी फसलें उगने लगीं। लोग धन-धान्य से पूर्ण हो गए। कंठ-कंठ से हर्ष फूटने लगा। धर्म-चर्चाओं के प्रति लोगों की रुचि बढ़ गई। संयम, सदाचार, अहिंसा, सत्य और दया-प्रेम के प्रति लोगों का झुकाव हो गया। ऐसा लगने लगा, मानो धरती के लोग अपनी सम्पूर्ण कलुषता त्यागकर किसी प्रसन्नता में स्वर्ग को छू लेना चाहते हैं।

भगवान महावीर ने जिन्हें अपनी जननी और जनक के रूप में वरण किया था, वह माता देवी के सदृश थीं, पिता देव-तुल्य थे। उनकी माता का नाम त्रिशलादेवी और पिता का नाम सिद्धार्थ था। त्रिशलादेवी तत्कालीन महाराणा और गणराज्य अधिपति चेटक की बहन थीं। वह ऊंचे विचारों की महत्त्वाकांक्षिणी महिला थीं। सिद्धार्थ बहुत बड़े विद्वान् नृपति थे। वह न्यायप्रिय, उदार और संयमी थे। धर्म की ज्योति से उनका हृदय सदा आलोकित रहा करता था। वह प्रजा का पुत्रवत् पालन और संरक्षण करते थे। जैन-शास्त्रों में महाराज सिद्धार्थ का उल्लेख 'सिद्धत्ये खत्तिये' और 'सिद्धत्ये राया' के नाम से हुआ है।

भगवान महावीर जब गर्भ में अवतरित हुए, उसी समय उनकी पूज्य माता के मुखमण्डल पर दिव्य-आभा विचरण करने लगी थी। महाज्ञानी गर्भस्थ भगवान महावीर के प्रभाव के कारण उनके हृदय में दिव्य-ज्ञान का अजस्र स्रोत प्रवाहित हुआ करता था। उस समय वह ज्ञान और धर्म-गोष्ठियों में भाग लेतीं और

गूढ़-से-गूढ़ प्रश्नों के उत्तर बड़ी विद्वत्ता के साथ दिया करती थीं। उन्हीं दिनों किसी विद्वान् नें उनसे बड़े-बड़े गूढ़ प्रश्न किए थे। उन्होंने उन प्रश्नों के उत्तर ऐसी बुद्धिमत्ता के साथ दिए थे कि उनके उत्तरों को सुनकर उसी समय गर्भस्थ महावीर स्वामी की विलक्षणता का पता मनीषी पुरुषों को चल गया था। उचित ही होगा, यदि यहां उक्त विद्वान् के प्रश्नों और त्रिशलादेवी के उत्तरों की एक सूची उद्धृत कर दी जाए :

प्रश्न—विद्वान् किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो शास्त्रों के ज्ञान को प्राप्त करके पाप-पंक में नहीं फंसता, जो मोह में आग्रस्त नहीं होता, और जो विषयों पर विजय प्राप्त करता है, उसे विद्वान् कहते हैं।

प्रश्न—सत्-पुरुष किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थों में सिद्धि प्राप्त करके निर्वाण-पद को प्राप्त होता है, उसी को सत्-पुरुष कहते हैं।

प्रश्न—भीरु किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो मानव-जीवन पाकर अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष में सिद्धि प्राप्त करके निर्वाण-पद प्राप्त नहीं करता, वही भीरु है।

प्रश्न—सिंह-पुरुष किसे कहते हैं ?

उत्तर—इन्द्रिय-जनित विषयों और काम-रूपी गज को पराजित करने वाले पुरुष को ही सिंह-पुरुष कहते हैं।

प्रियकारिणी त्रिशलादेवी के इन उत्तरों को सुनकर उक्त विद्वान् महोदय विस्मित हो उठे। ज्ञान-गोष्ठी में उपस्थित

अन्य विद्वानों को भी अवाक् हो जाना पड़ा। लोग यह सोचने लगे कि त्रिशलादेवी का गर्भस्थ बालक कोई सामान्य बालक नहीं, वरन् वह कोई दिव्य-ज्ञान-सम्पन्न महापुरुष है।

भगवान महावीर जब गर्भ में आए, उनकी मां को विचित्र-विचित्र स्वप्न भी हुआ करते थे। स्वप्नों के साथ-ही-साथ उनके मंगल-सूचक अंगों में स्फुरण भी हुआ करता था। शकुन भी बड़े आनन्दसूचक हुआ करते थे। एक दिन रात में प्रभात होने के पूर्व उन्होंने क्रम से सोलह स्वप्न देखे। प्रत्येक स्वप्न में उन्हें पृथक्-पृथक् वस्तुएं दिखाई पड़ीं। इस प्रकार उन्होंने अपने सोलह स्वप्नों में सोलह वस्तुएं देखीं। उन सोलह वस्तुओं के नाम इस प्रकार हैं :

१. चार दांतों वाला ऊंचा हाथी। २. श्वेत रंग का ऊंचे कंधे वाला बैल। ३. उछलता हुआ सिंह। ४. दो भव्य मदार पुष्पों की माला। ५. उदस्त चन्द्रमा। ६. सूर्य-दर्शन। ७. दो मछलियां। ८. सोने के दो कलश। ९. तालाब। १०. समुद्र। ११. लक्ष्मी-दर्शन। १२. ऊंचा सिंहासन। १३. स्वर्ण-विमान। १४. नाग-भवन। १५. रत्नभण्डार। १६. धुएं से रहित अग्नि।

त्रिशलादेवी ने अपने इन स्वप्नों की चर्चा महाराज सिद्धार्थ से की। महाराज सिद्धार्थ ने स्वप्नों में उनके द्वारा देखी गई वस्तुओं के नाम सुनकर, उनके फलों का निरूपण इस प्रकार किया :

१—'चार दांतों वाला ऊंचा हाथी' यह प्रकट करता है कि गर्भस्थ बालक तीर्थंकर होगा।

२—'श्वेत रंग का ऊंचे कंधे वाला बैल' यह सूचित करता

है कि गर्भस्थ बालक महान् धर्म-प्रचारक होगा।

३—'उछलता हुआ सिंह' से सूचना मिलती है कि गर्भस्थ बालक अतुल्य पराक्रमी और शूरवीर होगा।

४—'मदार पुष्पों' की माला से प्रकट होता है कि गर्भस्थ बालक महान कीर्तिशाली होगा। उसके यश की सुरभि दिग्-दिगन्तों में फैलेगी।

५—'उदस्त चन्द्रमा' से प्रकट होता है कि गर्भस्थ बालक दिव्य-ज्ञान-सम्पन्न होगा। वह अपने ज्ञान के प्रकाश से मोह के तम को दूर करेगा।

६—सूर्य-दर्शन इस बात का सूचक है कि गर्भस्थ बालक महान् ज्ञानी होगा। वह अपने ज्ञानरूपी सूर्य से जगत् में फैले अज्ञानता के अन्धकार को दूर करेगा।

७—'दो मछलियों' के देखने का फल यह है कि गर्भस्थ बालक अक्षय सुख को प्राप्त होगा।

८—'सोने के दो कलश' का तात्पर्य यह है कि गर्भस्थ बालक कल्याणकारी और अतीव सुन्दर होते हुए भी ध्यान-रती होगा।

९—'तालाब' से यह अर्थ निकलता है कि गर्भस्थ बालक अपने सत्कर्मों, आचरणों और व्यवहारों से सबको संतृप्त करेगा, सबकी तृषा को दूर करेगा, सबको शक्ति प्रदान करेगा।

१०—'समुद्र' से यह अर्थ प्रकट होता है कि गर्भस्थ बालक महान् ज्ञानी और विचारक होगा। जिस प्रकार समुद्र की कोई थाह नहीं पाता, उसी प्रकार गर्भस्थ बालक के ज्ञान की भी कोई थाह न पा सकेगा।

११—'लक्ष्मी-दर्शन' से यह प्रकट होता है कि गर्भस्थ बालक

का राज्य पर अधिकार होगा।

१२—'ऊंचा सिंहासन' का अर्थ यह है कि गर्भस्थ बालक मनुष्य होते हुए भी देवों के सिंहासन पर आसीन होगा और कोटि-कोटि मनुष्यों की श्रद्धा का पात्र बनेगा।

१३—'स्वर्ण-विमान' यह प्रकट करता है कि गर्भस्थ बालक स्वर्ग की महान् विभूति है।

१४—'नाग-भवन' से प्रकट होता है कि गर्भस्थ बालक जिस स्थान में जन्म लेगा, वह स्थान कोटि-कोटि मनुष्यों का तीर्थ बनेगा।

१५—'रत्न-भण्डार' का अर्थ यह है कि गर्भस्थ बालक मानवीय गुणों से सम्पन्न होगा।

१६—'धुएं से रहित अग्नि' का अर्थ यह है कि गर्भस्थ बालक अपने ज्ञान से सभी कर्मों का क्षय करके निर्वाण-पद को प्राप्त करेगा।

इस प्रकार भगवान महावीर के अवतीर्ण होने के पूर्व ही लोगों को उनके देवत्व और महापुरुषत्व का परिचय मिल गया था। लोग बड़ी उत्कंठा और उत्सुकता से उस मंगलमय घड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे, जब उनके पावन चरण धरती पर पड़ेंगे।

आखिर वह घड़ी आ गई। ईसा से ५९९ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की तिथि थी, सोमवार का दिन। वसन्त ऋतु का वैभव चतुर्दिक फैला हुआ था। बाग-बगीचे फूलों से झूम रहे थे। धरती से लेकर आकाश तक सुरभि की लहरें व्याप्त थीं। पक्षी सुमधुर स्वरों में बोल रहे थे और उनके मधुर गान कर्ण-कुहरों में अमृत-रस घोल रहे थे। नदियों-सरोवरों में

निर्मल जल लहरा रहा था। आकाश निर्मल था। चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र पर स्थित था। महाराज सिद्धार्थ के घर में मंगल-वाद्य बज उठे, दिव्य ज्योति ने मनुष्य रूप में त्रिशलादेवी की गोद में जन्म लिया। धरती पुलकित हो उठी। स्वर्ग में भी आनन्द छा गया। महाराज सिद्धार्थ के राजभवन का तो कहना ही क्या—उसमें तो कोने-कोने से, अंग-अंग से आनन्द और उल्लास का सागर उमड़ उठा था।

भगवान महावीर के जन्म पर स्वयं देवताओं ने धरती पर आकर उनकी अभ्यर्थना की थी। स्वयं सोधर्म इन्द्र ने बाल-प्रभु को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर, रत्नमयी पांडुक शिला पर उनका अभिषेक किया था। जो भी हो, यह तो सर्वविदित है कि भगवान महावीर के जन्म की प्रसन्नता में महाराज सिद्धार्थ के सारे राज्य में आनन्द और उत्साह की लहर दौड़ गई थी। घरों को घी के दीपकों से आलोकित किया गया था। जेलों से बन्दी छोड़ दिए गए थे। दान-दक्षिणा से याचकों की झोलियां भर दी गईं। पूरे दस दिन तक दान-दक्षिणा का क्रम चलता रहा, मंगल-वाद्य बजते रहे, मंगल-गीतों से आकाश गुंजित होता रहा।

क्यों न हो, दिव्य-ज्योति साकार रूप में धरा पर अवतीर्ण हुई थी न!

बालारुण की स्वर्ग-रश्मियां

बालक महावीर का सुन्दर गौर वर्ण था। मांसल शरीर और दीर्घ भुजाएं थीं। चन्द्रमा के समान मुख-मण्डल और विशाल नेत्र थे। उनके मुख-मण्डल पर निरन्तर दिव्य-ज्योति-सी खेलती रहती थी। मनुष्य ही नहीं, देवता भी उनकी मोहक छवि को देखकर विमुग्ध हो जाते थे।

बड़े-बड़े ज्योतिषी, बड़े-बड़े गणक और बड़े-बड़े विद्वान् बालक महावीर के शरीर के लक्षणों को देखकर विस्मित-चकित हो गए थे। एक बहुत बड़े साधु ने बालक महावीर के शरीर के लक्षणों को देखकर उनके भावी जीवन के सम्बन्ध में इस प्रकार घोषणा की थी, "हे राजन, आपका यह बालक धर्म और यश में अद्वितीय होगा। इसके लिए संस्कार व्यर्थ हैं, क्योंकि इसके शरीर-लक्षणों से प्रकट होता है कि यह सिद्धरूप है।"

बड़े-बड़े ज्योतिषियों ने भी बालक महावीर के जन्म के नक्षत्रों का अध्ययन करके स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी, "यह

बालक धरती का शृंगार है। इसके प्रताप और यश का गान मनुष्य ही नहीं; सूर्य, चन्द्र और आकाश के नक्षत्र भी करेंगे। इसके द्वारा जगत् में मंगलदायिनी क्रान्ति—होगी वह क्रान्ति जो मनुष्य के दुख-दैन्य को मिटाकर उसे अक्षय सुख-पंथ की ओर ले जाएगी।"

भगवान महावीर के जन्म के पूर्व ही महाराज सिद्धार्थ के राज्य की धरती धन-धान्य से पूर्ण हो गई थी। घर-घर में सुख-सम्पदा की श्री छा गई थी। वह जब अवतीर्ण हुए, तो उसमें और भी अधिक अभिवृद्धि हुई। ऐसा लगा, जैसे धरती स्वयं अपने कोष को लुटा रही हो, लोगों के घरों को धन-धान्य से भर रही हो। अतः महाराज ने अपने नवजात का नाम रखा—'वर्द्धमान', जो बालक के गुणों के अनुरूप ही था। यश में वृद्धि, धन में वृद्धि, ज्ञान में वृद्धि, पौरुष में वृद्धि और धर्म में वृद्धि—फिर क्यों न बालक का नाम 'वर्द्धमान' पड़े?

कितनी मंगलमय घड़ी रही होगी वह! निश्चय ही नाम-करण संस्कार के समय भी बधाइयां बजी होंगी, मंगल-गीतों से आकाश गुंजित हो गया होगा और दान-दक्षिणा से याचकों की झोलियों को भर दिया गया होगा।

एक विद्वान् और भावुक लेखक ने नाम-संस्कारोत्सव का चित्रण इस प्रकार किया है—"अपूर्व उमंग और उल्लास के साथ भगवान का नाम-संस्कार किया गया। उन्हें 'वर्द्धमान' नाम से अलंकृत किया गया। उस समय सारा नगर तोरणों, बन्दन-वारों और झालरों से सुसज्जित था। घर-घर से मंगल-गीतों की ध्वनि उठ रही थी। शहनाइयां बज रही थीं। मन्त्रों की

गुंजार से आकाश गुंजित हो रहा था। रह-रहकर जय-ध्वनियां उठ रही थीं। राजभवन में रुपये, पैसे, वस्त्र और अनाज ही नहीं, जवाहरात भी लुटाये जा रहे थे। महारानी और महाराजा का हृदय आनन्द और उल्लास का एक दूसरा स्वर्ग बन गया था।"

बाल्यावस्था में भगवान महावीर के 'वर्द्धमान' के अतिरिक्त और भी कई नाम थे। उनकी माता ने उन्हें 'विदेह', 'विछेदित' और 'वैशालिक' आदि नाम दिए थे। 'ज्ञात-पुत्र', 'अतिवीर' और 'निर्ग्रन्थ' आदि नाम भी उन्हें मिले थे। उनका एक और नाम था—'सन्मति'। इस नाम के साथ एक कहानी जुड़ी है, जो बड़ी रोचक और प्राण-प्रेरक है। कहानी इस प्रकार है :

भगवान महावीर की अवस्था बहुत ही अल्प थी। एक दिन वह पालने पर लेटे हुए झूला झूल रहे थे। आकाश-मार्ग से दो ऋषि जा रहे थे। उन ऋषियों में एक का नाम संजय और दूसरे का नाम विजय था। उन्हें ऋद्धियां-सिद्धियां प्राप्त थीं। भगवान को पालने पर लेटा हुआ देखकर उनके मन में शंकाएं जाग्रत हो उठीं। वह उनकी परीक्षा के लिए उनके पास जा पहुंचे। किन्तु उनके निकट पहुंचकर जब उन्होंने उनका दिव्य-दर्शन किया तो उनके दर्शन-मात्र से ही उनके मन की शंकाएं दूर हो गईं। उन ऋषियों ने प्रसन्न होकर भगवान को 'सन्मति' नाम से सम्मानित किया।

भगवान महावीर के माता-पिता भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी थे। अहिंसा, करुणा, दया और संयम-

शीलता आदि महान् गुणों से उनका जीवन आलोकित था। भगवान महावीर का बाल-जीवन इन्हीं महान् गुणों और आदर्शों की छाया में व्यतीत हुआ। यों तो वह स्वयं महान् आदर्शों और गुणों के विधाता थे, पर लौकिक जीवन में भी आरम्भ से ही उन्हें महान् गुणों और आदर्शों की छाया में रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। इसी का यह परिणाम था कि आठ वर्ष की अवस्था में ही वे निम्नांकित बातों पर अमल करने लगे थे :

(क) मैं जीवों पर दया करूंगा।
(ख) मैं सदा सच बोलूंगा।
(ग) कभी चोरी नहीं करूंगा।
(घ) ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करूंगा।
(च) अपनी इच्छाओं को सीमित रखूंगा।

विश्व के इतिहास में ऐसा बालक कहीं खोजने पर भी न मिलेगा, जिसने अपनी आठ वर्ष की अवस्था में ही जीवों पर दया करने, सच बोलने, चोरी न करने, ब्रह्मचर्य रखने, अपनी इच्छाओं को सीमित रखने की बात सोची हो। उसके सम्बन्ध में इस बात को छोड़कर और क्या कहा जा सकता है कि वह मनुष्य-रूप में साक्षात् परमात्मा है। परमात्मा को छोड़कर बाल्यावस्था में ऐसी अन्तःप्रवृत्ति और किसकी हो सकती है?

जैन-ग्रन्थों में भगवान महावीर के बाल-जीवन की कई ऐसी कहानियां प्राप्त होती हैं, जो उनका दैवत्य और भगवत्ता प्रदर्शित करती हैं। इसी कोटि की एक कहानी इस प्रकार है :

स्वर्ग में इन्द्र का दरबार लगा था। एक देव बड़े ही सुन्दर

शब्दों में भगवान महावीर के परोपकारी जीवन का चित्र खींच रहा था। दरबार में एकत्रित देवता बड़ी तन्मयता से उसकी बातें सुन रहे थे। पर उनमें एक ऐसा भी देवता था, जिसके मन में ईर्ष्या की अग्नि जल उठी। वह अपने को रोक न सका। आवेग के स्वर में बोल उठा—"मैं अभी जाता हूं!"

किसी दूसरे देवता ने प्रश्न किया—"पर कहां जाते हो?"

ईर्ष्यालु देवता ने उत्तर दिया—"महावीर वर्द्धमान की परीक्षा लेने के लिए।" और वह चल पड़ा।

भगवान महावीर एक वाटिका में अपने मित्रों के साथ आंख-मिचौनी का खेल रहे थे। हठात् ईर्ष्यालु देव एक विषधर नाग के रूप में प्रकट हो उठा। वह देखने में काले रंग का, बड़ा भयानक था। वह प्रकट होते ही फण फैलाकर फुंकारता हुआ भगवान महावीर की ओर झपट पड़ा। भगवान महावीर के सखा-गण भयभीत हो उठे, पर भगवान महावीर रंचमात्र भी विचलित न हुए। वह हिमालय की भांति अडिग खड़े रहे। आखिर उनकी धैर्य-शक्ति ने नाग को पराजित कर दिया। वह बारम्बार झुककर भगवान महावीर का वन्दन करने लगा।

इसी प्रकार की और भी कई कहानियां उनके बाल-जीवन की मिलती हैं, जो उनकी अलौकिकता को प्रकट करती हैं।

एक विद्वान् लेखक ने भगवान महावीर के बाल-जीवन का चित्रण इस प्रकार किया है—'उनके बाल्यकाल की अनेक कथाएं जैन-ग्रन्थों में उल्लिखित हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि वर्द्धमान 'होनहार बिरवान के होत चिकने पात' की उक्ति के अनुसार बचपन से ही अतीव बुद्धिमान, विशिष्ट ज्ञानवान, धीर, वीर और साहसी थे।'

विरक्ति का स्वर्ण-कमल

भगवान महावीर जन्मजात वीतरागी थे। वह आत्मकल्याण एवं लोकहित के लिए संसार में अवतरित हुए थे। लोक-कल्याण ही उनका इष्ट था, लोक-कल्याण ही उनका लक्ष्य था। जीवन के प्रथम चरण से ही वह मानव-कल्याण के लिए संघर्ष करने लगे। संघर्ष करने लगे, पर किससे? क्या शत्रु से? क्या शत्रु के सैनिकों से? हां, शत्रु से—प्रबल शत्रु से? किन्तु उनका वह प्रबल शत्रु कौन था? क्या कोई शरीरधारी नृपति? क्या किसी देश का कोई पराक्रमी शासक? नहीं, उनका शत्रु तो था वह काम, जो मनुष्यों को अपने पंक में फंसाकर उसे मंगल की ओर जाने से रोकता है। उनके शत्रु के रूप में तो थी वे विषय-वासनाएं, जो मनुष्य को अपनी सुरा पिलाकर उसे कर्तव्यच्युत कर देती हैं। महावीर वर्द्धमान बाल्यावस्था से ही उसी काम से, उन्हीं विषय-वासनाओं से युद्ध करने लगे, बड़े शौर्य के साथ उन्हें पीछे ढकेलने लगे।

भगवान महावीर के पिता बहुत बड़े नृपति थे। उनके पास क्या नहीं था ? राज्य था, वैभव था, सेना थी, सेवक थे, सेविकाएं थीं, विलास था, आमोद-प्रमोद के साधन थे। बालक महावीर के आस-पास चारों ओर लौकिक सुखों का—भोगों का ही सतरंगा जाल था। पर क्या वह कभी उस जाल में फंसे ? नहीं, अपने माता-पिता के लाड़ले पुत्र होते हुए भी उन्होंने कभी उन सुखों और भोगों की ओर देखा तक नहीं। वह सुखों और भोगों के बीच में उसी प्रकार रहे, जिस प्रकार पानी में कमल रहता है। कमल पानी में रहता हुआ भी जल को स्पर्श नहीं करता। ठीक यही हाल महावीर स्वामी का भी था। वह भी कमल की भांति सुखों और भोगों से पृथक् ही रहे।

एक विद्वान् लेखक ने महावीर स्वामी के बाल-जीवन का चित्रण इस प्रकार किया है—"बाल्यावस्था में ही महावीर स्वामी के हृदय में विरक्ति का पौधा अंकुरित हो उठा था। उन्हें ठाठ-बाट से अरुचि थी। दूसरों के दुखों को देखकर वह दुखी हो जाते थे। बलि दिए जाने वाले पशुओं की करुण चीत्कार से उनका हृदय चीत्कार कर उठता था।"

पर यह तो सत्य है ही कि वह एक राजकुमार थे। उन्हें आदर-सम्मान सब कुछ प्राप्त था। उन पर सबकी आंखें लगी रहती थीं। वह लक्ष-लक्ष मनुष्यों के प्यार, श्रद्धा और स्नेह के बीच में शनैः-शनैः वय की सीढ़ियां लांघने जा रहे थे। आखिर वह तरुण हुए, यौवन की कान्ति उनके अंग-अंग से फूट पड़ी। सात हाथ ऊंचा उनका शरीर, यौवन की अनुपम प्रभा से झिलमिला उठा। प्रजा उनके बलिष्ठ और कान्तिमय शरीर

को देखती तो यह सोचकर अपने को धन्य मानने लगती कि एक दिन आएगा, जब यही अलौकिक महापुरुष उसके भाग्य का विधाता बनेगा। पर प्रजा को क्या मालूम कि उस अलौकिक महापुरुष का जन्म किसी एक प्रान्त के लिए नहीं, किसी एक देश के लिए नहीं, वरन् सम्पूर्ण विश्व के प्राणी मात्र के कल्याण के लिए हुआ है।

माता त्रिशलादेवी के मन का क्या कहना? वह अपने अद्वितीय और अलौकिक बेटे के शरीर की तरुणाई और लुनाई देखकर लाख-लाख मन से उस पर बलिहारी जातीं। वह मन-ही-मन सोचतीं, क्या ही अच्छा होता, यदि वर्द्धमान का विवाह होता, और राजभवन में बहू का प्रवेश होता। आखिर उन्होंने महाराज सिद्धार्थ पर भी अपनी अभिलाषा प्रकट की। महाराज को भी इसमें क्या आपत्ति होती? क्योंकि वह भी तो पिता थे। पिता होने के कारण उनके हृदय में भी तो अपने अनुपम बेटे के विवाह की मनोकामनाएं थीं।

उन दिनों कलिंग देश के नृपति महाराज जितशत्रु कुण्ड-ग्राम ससैन्य दल-बल पधारे हुए थे। उनके साथ उनकी पुत्री यशोदा भी थी। यशोदा रूप और गुण में अद्वितीय थी। यशोदा को देखकर, राजमाता देवी मुग्ध हो उठीं। उन्होंने निश्चय किया कि वह यशोदा के साथ ही अपने पुत्र का विवाह करेंगी। उन्होंने महाराज सिद्धार्थ की सहमति भी प्राप्त कर ली। पर अभी राजकुमार वर्द्धमान की सहमति प्राप्त करना तो शेष ही था। बिना उनकी सहमति प्राप्त किए हुए वह आगे कदम कैसे बढ़ा सकती थीं?

पर यह तो सत्य ही है कि उनका मन उस मंगलमय घड़ी को देखने के लिए रह-रहकर अधीर हो रहा था, जब यशोदा और राजकुमार वर्द्धमान दोनों परिणय के सूत्र में बंधेंगे और सारा राजभवन मंगल-गीतों से मुखरित हो उठेगा। आखिर एक दिन अवसर पाकर उन्होंने राजकुमार वर्द्धमान से चर्चा छेड़ ही दी—"बेटा, मैं कलिंग-नरेश की पुत्री यशोदा को अपनी पुत्र-वधू बनाना चाहती हूं।"

पर राजकुमार वर्द्धमान ने कुछ उत्तर न दिया। माता त्रिशला पुनः बोल उठीं—"बोलो बेटा, मैं तुम्हारी सहमति चाहती हूं। अब मेरी यही अभिलाषा है।"

राजकुमार वर्द्धमान ने अर्थपूर्ण दृष्टि से मां की ओर देखा और कहा—"मुझे दुःख है मां, तुम्हारी यह अभिलाषा पूर्ण न हो सकेगी। मैं विवाह-बंधन में न बंधूंगा।"

राजमाता त्रिशला विस्मय-भरे स्वर में बोल उठीं—"विवाह न करोगे! पर क्यों?"

राजकुमार वर्द्धमान ने उत्तर दिया—"मां, मैंने लोक और आत्म कल्याण का महाव्रत लिया है। देख रही हो न, चारों ओर अधर्म और अज्ञान का अन्धकार फैला हुआ है! चारों ओर से पाप का धुआं उठ रहा है और बलि दिये जाने वाले पशुओं की करुण चीत्कार से दिशाएं कम्पित हो रही हैं। मां, मैं इस अज्ञानान्धकार को दूर करूंगा। इस अंधेरे को, इस कदाचार को मिटाने में ही अपना सम्पूर्ण जीवन लगाऊंगा।"

राजमाता त्रिशलादेवी स्तब्ध हो उठीं। वह सोचती थीं, पुत्र का विवाह करूंगी, राजभवन में पुत्र-वधू लाकर मंगल-

गीतों से उसे गुंजा दूंगी। इससे भी आगे बढ़कर वह मन-ही-मन और भी बहुत-सी बातें सोच रही थीं, पर राजकुमार वर्द्धमान ने तो एक ही झटके में उनके स्वप्नों के स्वर्ण-महल को चकनाचूर कर दिया। फिर भी वह हताश न हुईं, बोल उठीं—"तुम तो लोक-कल्याण में लगोगे बेटा, अधर्म और अज्ञान के अंधकार को दूर करोगे, पर इस राज्य का क्या होगा ? कौन उसे संभालेगा ?"

राजकुमार वर्द्धमान ने संयत स्वर में उत्तर दिया—"मां, यह सब नष्ट हो जाने वाली वस्तुएं हैं। जो नष्ट हो जाने वाली वस्तुएं हैं, हमें उनकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। हमें उनके पीछे नहीं भागना चाहिए।"

राजमाता त्रिशलादेवी साधारण माता नहीं थीं। यदि राजकुमार वर्द्धमान अद्वितीय पुत्र थे, तो वह भी अद्वितीय मातृपद पर प्रतिष्ठित थीं। उन्होंने तीर्थंकर को जन्म देकर महान् गरिमा प्राप्त की थी। उनके हृदय में धर्म था, ज्ञान था। वह अपने वर्द्धमान को परिणय-सूत्र में अवश्य बांधना चाहती थीं, पर यह नहीं चाहती थीं कि राजकुमार वर्द्धमान जीवन की सच्ची राह को छोड़ें। अतः जब उन्होंने वर्द्धमान के मन में विवाह के प्रति विरक्ति देखी, तो वह मौन हो गईं। मौन ही नहीं हो गईं, उन्होंने हृदय से यह अनुभव किया कि राजकुमार जो कुछ कह रहे हैं, ठीक ही कह रहे हैं। फलतः राजकुमार वर्द्धमान विवाह-बंधन में नहीं बंधे।

सच तो यह है कि वह जन्मजात विरक्त थे। बाल्यावस्था से ही उनकी विरक्ति लोगों के सामने प्रकट होने लगी थी।

आठ वर्ष की आयु से ही खान-पान, रहन-सहन, व्यवहार, आचरण—सब में उनकी विरक्ति-भावना परिलक्षित होती थी। वह ज्यों-ज्यों वय की सीढ़ियां लांघते गए, उनकी विरक्ति-भावना में भी पंख लगते गए। यौवनावस्था में तो वह पूर्ण रूप से विरक्त बन गए थे।

यह सच है कि तीस वर्ष की अवस्था तक वह घरेलू जीवन में रहे, पर यह भी सच है कि वह घरेलू जीवन में भी पूर्ण विरक्त के समान ही रहे। उनके मन में कई बार तूफान उठा कि वह गृहस्थ जीवन के बन्धनों को तोड़कर अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए निकल जाएं, पर किसी-न-किसी कारण उन्हें रुक जाना पड़ता था। आखिर तीस वर्ष की आयु में उन्होंने राज-पाट त्याग कर वीतराग-दीक्षा ले ही ली।

वैराग्य की पुष्टि के लिए वह बारह भावनाओं का चिन्तन करने लगे। वे बारह भावनाएं इस प्रकार हैं :

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्मानुप्रेक्षा।

एक जैन-कवि ने इन बारह भावनाओं को बड़े ही सरल ढंग से पद्यबद्ध किया है :

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार।।

दलबलदेई देवता, मात पिता परिवार।
मरती विरियां जीव को, कोई न राखनहार।।

दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान।
कहूं न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान ।।
आप अकेलो अवतरै, मरै अकेलो होय।
यूं कबहूं इस जीव को, साथी सगा न कोय ।।
जहां देह अपनी नहीं, वहां न अपनो कोय।
पर संपति पर प्रगट ये पर हैं परिजन लोय ।।
दिपै चामचादरमढ़ी, हाड़ पींजरा देह।
भीतर या सम जगत मैं, अवर नहीं घिनगेह ।।
मोहनींद के जोर, जगवासी घूमै सदा।
कर्मचोर चहुं ओर, सरबस लूटें सुध नहीं ।।
सतगुरु देय जगाय, मोहनींद जब उपशमै।
तब कछु बनहिं उपाय, कर्मचोर आवत रुकै ।।
ज्ञानदीपतपतेल घर, घर शोधै भ्रम छोर।
याविध बिन निकसै नही, पैठे पूरब चोर ।।
पंच महाव्रत संचरण, समिति पंच परकार।
प्रबल पच इन्द्री-विजय, धार निर्जरा सार ।।
चौदह राजु उतंग नभ, लोक पुरुप संठान।
तामै जीव अनादितैं, भरमत हैं बिन ज्ञान ।।
धनकनकंचन राजसुख, सबहि सुलभकर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान ।।
जाचे सुरतरु देय सुख, चिंतत चिंतारैन।
बिन जांचे बिन चिंतये, धर्म सकल सुख दैन ।।

स्मरणीय जय-यात्रा

भगवान महावीर की वह स्मरणीय जय-यात्रा क्या किसी देश को पराभूत करने के लिए थी ? क्या वह किसी देश की जनता को दासता के लौकिक बन्धनों से मुक्ति दिलाने के लिए थी ? नहीं, उनकी वह जय-यात्रा मन की उन कामनाओं और विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए थी, जिनके बन्धनों में बंधकर मनुष्य अपनी मानवता खो चुका था, भांति-भांति के दैत्यों के पाश में फंसकर कलप रहा था। कितना साहसपूर्ण और शौर्य भरा था उनका वह चरण ! देशों पर विजय प्राप्त करने वाले तो विश्व के इतिहास में अनेक महापुरुष मिलते हैं, पर कामनाओं और विषय-वासनाओं को जीतने वाले महामानव कम ही होते हैं। भगवान महावीर ऐसे ही महामानवों में अद्वितीय थे। उन्होंने कामनाओं और विषय-वासनाओं की कंटीली झाड़ियों को काटने के लिए जो साहसपूर्ण कदम उठाया था, उससे वह अमर बन गये, कोटि-कोटि

मनुष्यों की श्रद्धा और विश्वास के पात्र बन गए। श्रद्धा और विश्वास के पात्र इसलिए बन गये कि उन्होंने मनुष्यों को दु:खों से मुक्ति दिलाई, रोगों से मुक्ति दिलाई, और मुक्ति दिलाई उन कदाचारों से, जो मनुष्य के सुख और शान्ति के युगों से घोर शत्रु बने हुए थे।

बड़े ही दुर्दमनीय शत्रु हैं ये मनुष्य के! बड़े-बड़े मनुष्य-शत्रुओं को तो सभी योद्धा पराजित कर देते हैं, पर दु:ख, रोग, कदाचार और काम सरीखे दुर्दमनीय शत्रुओं को भगवान महावीर जैसे विरले महामानव ही पराजित करते हैं। निम्न कहानी में भी इसी बात का प्रतिपादन किया गया है :

एक नृपति था। उसने अपने समस्त शत्रुओं को पराभूत कर दिया, सब के देशों पर विजय-केतु गाड़ दिया। किन्तु फिर भी देशों पर विजय स्थापित करने की उसकी लालसा न मिटी। एक दिन उसने अपने वयोवृद्ध मन्त्री से कहा—"मन्त्री जी, अब तो धरती पर कोई शत्रु पराजित करने के लिए रहा नहीं, अत: अब मैं धरती के ऊपर ग्रहों पर आक्रमण करूंगा।"

वयोवृद्ध मन्त्री बुद्धिमान थे, शान्तिप्रिय थे, वह राजा की युद्ध-लिप्सा से आकुल हो उठे। अत: सोचकर बोले—"महाराज, ग्रहों पर आक्रमण करने की आवश्यकता नहीं।"

राजा ने विस्मित दृष्टि से वयोवृद्ध मन्त्री की ओर देखा, "तो इसका अर्थ यह हुआ कि अभी धरती पर ही बहुत से शत्रु पराजित करने के लिए शेष हैं?"

वयोवृद्ध मन्त्री ने उत्तर दिया— 'हां महाराज, अभी धरती पर ही आपके बहुत-से ऐसे शत्रु शेष हैं जो पराजित नहीं

हो सके हैं !"

राजा तत्क्षण बोल उठा—"उन शत्रुओं के नाम बताइए, मन्त्री जी, मैं उन पर भी आक्रमण करके उन्हें ध्वस्त कर दूंगा।"

वयोवृद्ध मन्त्री ने निवेदन किया—"राजन्, उन शत्रुओं के नाम हैं गरीबी, दुःख, रोग, बुढ़ापा, पापाचार, क्रोध, मान, माया, लोभ और अहंकार।"

राजा नेत्रों में आश्चर्य भरकर मन्त्री की ओर देखने लगा। वह 'हां' या 'ना'—कुछ न कह सका। उसका कंठ अवरुद्ध हो गया। स्पष्ट है कि वह देशों को तो पराभूत कर सकता था, पर इन शत्रुओं को परास्त करने की उसमें क्षमता नहीं थी। केवल उसी में नहीं, बड़े-से-बड़े चक्रवर्ती सम्राट, बड़े-से-बड़े क्रान्तिकारी नेता और समाज-सुधारक भी मनुष्य के इन शत्रुओं से युद्ध करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। भगवान महावीर ने मनुष्य के इन शत्रुओं से केवल युद्ध ही नहीं किया, उन पर विजय भी प्राप्त की। इसीलिए तो भगवान महावीर की वह जय-यात्रा सदा-सदा के लिए स्मरणीय बन गई।

भगवान महावीर अपनी वय की तीसवीं सीढ़ी पर चरण रख चुके थे। माघ के शुक्ल पक्ष की दसमी थी। भगवान महावीर कामनाओं से युद्ध करने के लिए उद्यत हो उठे। उन्होंने राज्य, भवन, सुख, सम्पदा और कुटुम्ब-बन्धुवर्ग, सबके बन्धनों को तोड़ दिया और एक महान् योद्धा की भांति सबको छोड़कर पृथक् जा खड़े हुए। सारे कुण्डलपुर में शोक और उल्लास की आंधी दौड़ गई। शोक इसलिए कि उनके प्राणप्रिय राज-

कुमार उन्हें छोड़कर जा रहे हैं और उल्लास इसलिए कि उनके प्राणप्रिय राजकुमार उन विषय-वासनाओं से युद्ध करने के लिए जा रहे थे, जिन्हें अब तक लोग अजेय-अविजित समझते थे। एक ओर लोगों के नेत्रों में आंसू थे, तो दूसरी ओर उनके कंठों से जयनाद भी निकल रहा था। हर्ष और विषाद के समागम का अद्भुत दृश्य उपस्थित था।

यहां भी भगवान महावीर ने अद्भुत वीरता-शूरता के ही चिह्न बनाए। प्रायः देखा जाता है कि जब लोग संन्यास लेने के लिए घर-द्वार छोड़ते हैं तब या तो चुपचाप बिना किसी को सूचित किए चले जाते हैं, या निशा के सन्नाटे में जब परिवार के सभी लोग गाढ़ी निद्रा में सोते रहते हैं, घर का परित्याग करते हैं। महात्मा बुद्ध जैसे महान् आत्म-दृष्टा ने भी रात के सन्नाटे में ही अपने घर और बन्धु-बान्धवों का परित्याग किया था। पर इसके प्रतिकूल भगवान महावीर ने दिन में सबके सामने बड़े समारोह के साथ मोह-ममता का परित्याग किया। उनके गृह-त्याग से पूर्व एक बहुत बड़ा समारोह हुआ। समारोह में परिजन, पुरजन और राज्य-जन एकत्र हुए। सबने भगवान महावीर को विदा दी। सबकी आंखों में उनके लिए उत्कट मोह था, और सबके हृदयों में उनके लिए प्रबल आकर्षण था। पर किसी के नेत्रों के आंसू, किसी के प्राण का मोह, और किसी के हृदय का आकर्षण उनके उठे हुए चरणों को बांधने में सफल न हो सका। धन्य थे उनके वे चरण! उनके उन चरणों में कितनी गति थी, कितनी संचरण-शक्ति थी! इसीलिए तो लोग कहते हैं कि भगवान 'महावीर' ही नहीं, 'अति वीर' थे।

भगवान महावीर सबकी डबडबायी आंखों और तड़पते हुए हृदयों से मुंह मोड़कर चलने के लिए उद्यत हो उठे। जैन-शास्त्रों में उनकी इस स्थिति का चित्रण इस प्रकार किया गया है—"जिस प्रकार सूर्य के उदित होने के पश्चात् आग तापने का मोह समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार भगवान महावीर को अपनी सम्पत्ति का मोह समाप्त हो गया।" भगवान महावीर मोह-बन्धनों को तोड़कर चन्द्रप्रभा पालकी पर जा बैठे। पालकी राजपथ से होकर आगे की ओर बढ़ चली। राजपथ के दोनों ओर लोग हाथ बांधे हुए खड़े थे, सबकी आंखें भरी थीं। पर चन्द्रप्रभा पालकी आगे बढ़ती ही गई, और बढ़ती ही गई।

पालकी राजपथ से होती हुई नागुखण्ड वन-उद्यान की ओर बढ़ी। पालकी के वाहकों को ऐसा ही निर्देश था। उद्यान में पहुंचकर वाहक रुक गए। उन्होंने महिमामय अशोक-वृक्ष के नीचे पालकी कंधे से उतारकर रख दी। भगवान महावीर पालकी से नीचे उतरे। अशोक-वृक्ष के नीचे मणियों से जटित स्फटिक शिला थी। पर उन्होंने उसकी ओर देखा तक नहीं। वह कितनी ही बार उस स्फटिक शिला पर बैठकर उसे गौरवान्वित कर चुके थे। पर आज तो वह राजकुमार नहीं, पूर्ण विरक्त थे। वह उससे दूर खड़े हो गए और अपने शरीर के उन आभूषणों और वस्त्रों को उतारने लगे, जो उस समय उनके शरीर पर थे। सबसे पहले उन्होंने एक-एक करके अपने आभूषण उतार दिये, फिर वस्त्र भी। इस प्रकार वस्त्रों को उतारकर वह पूरे शिशु-रूप हो गए। कितना हृदय-द्रावक रहा होगा वह दृश्य। कुछ क्षणों में ही लोक-कल्याण के लिए वह

बिलकुल विरक्त बन गए। वंदनीय है भगवान महावीर का त्याग।

भगवान महावीर ने वस्त्रों और आभूषणों का परित्याग करने के साथ ही दृढ़ संकल्प किया कि वह २८ गुणों का पालन करेंगे। उन्होंने जिन २८ गुणों के पालन का महाव्रत लिया, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, ५. अपरिग्रह। ये पांच महाव्रत हैं। इन पांच महाव्रतों के पालन की प्रतिज्ञा करके उन्होंने पांच समितियों को भी स्वीकार किया। पापों से बचने के लिए मन की एकाग्रता को 'समिति' कहते हैं। भगवान महावीर ने जिन समितियों को स्वीकार किया, उनके नाम इस प्रकार हैं :

६. ईर्या समिति—जीवों की रक्षा के लिए, सावधानी के साथ चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलेंगे।

७. भाषा समिति—बहुत कम बोलेंगे, केवल मंगलमय, कल्याणकर, मधुर और सत्य वचन ही बोलेंगे।

८. एषणा समिति—दोष-रहित और पवित्र भोजन ग्रहण करेंगे।

९. आदाननिक्षेप समिति—किसी भी वस्तु को उठाते या रखते समय सावधानी बरतेंगे, जिससे किसी जीव-जन्तु को चोट न लग जाए।

१०. व्युत्सर्ग समिति—उत्सर्ग का विवेक रखेंगे।

भगवान महावीर ने पांच महाव्रतों और पांच समितियों पर चलने की प्रतिज्ञा करने के पश्चात् निम्नांकित गुणों के पालन की भी प्रतिज्ञा की :

११. स्पर्श-विरोध—हम अपनी प्रिय और इच्छित वस्तु का स्पर्श न करेंगे ।

१२. चक्षु-विरोध—हम इच्छित वस्तु न देखेंगे ।

१३. रसना-विरोध—हम अभीप्सित वस्तु न खायेंगे ।

१४. घ्राण-विरोध—हम इच्छित गंध न सूंघेंगे ।

१५. कर्ण-विरोध—हम इच्छित संगीत न सुनेंगे ।

१६. सम सामायिक—समभाव का पालन करेंगे ।

१७. चतुर्विंशतिस्तव—हम तीर्थंकरों की स्तुति करेंगे ।

१८. वन्दना—हम देव और गुरु को ही नमस्कार करेंगे ।

१९. प्रतिक्रमण ।

२०. प्रत्याख्यान ।

२१. कायोत्सर्ग ।

२२. केशलोच ।

२३. अचेलकत्व ।

२४. अस्नान ।

२५. क्षितिकायन ।

२६. अदन्तधावन ।

२७. स्थिति भोजन ।

२८. एक समय का भोजन ।

अनुचित और अनुपयुक्त स्थानों के परित्याग को प्रतिक्रमण कहते हैं । इच्छाओं का निरोध करना प्रत्याख्यान कहलाता है । शरीर सम्बन्धी ममत्व को दूर करने का प्रयास कायोत्सर्ग है । उपवास के पश्चात् अपने हाथों से ही केश उखाड़ने को 'केशलोच' कहते हैं ।

इस प्रकार भगवान महावीर ने कामनाओं और विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए २८ गुणों के पालन की घोषणा की। उन्होंने अपनी इस घोषणा से मनुष्य ही नहीं, देवताओं को भी कम्पित कर दिया। क्योंकि इन गुणों के पालन की क्षमता मनुष्य में क्या, देवताओं में भी नहीं हो सकती। इसीलिए तो कहते हैं कि भगवान महावीर मानवों में सर्वोपरि मानव थे, देवताओं में सर्वोत्तम देवता थे।

भगवान महावीर ने इन गुणों का पालन किया। हिमालय के समान दृढ़ प्रतिज्ञा करके शीघ्र ही उपवास प्रारम्भ कर दिया। उनका यह उपवास ढाई दिनों का था। वह कुण्डलपुर के उस उद्यान को छोड़कर आगे चल पड़े और कुल्यपुर पहुंचे। कुल्यपुर में उन्होंने प्रथम भोजन ग्रहण किया। कुल्यपुर से वह आगे बढ़े, दशपुर पहुंचे। दशपुर से आगे बढ़ने पर भगवान महावीर ने सघन वनों और अरपदों का पथ ग्रहण किया। भगवान महावीर निरन्तर साढ़े बारह वर्षों तक वनों और अरण्यों में घूम-घूमकर तप करते रहे। वह अपने तप के दिनों में किसी भी स्थान में तीन दिन से अधिक नहीं ठहरते थे। उन्होंने तप के दिनों में अगणित स्थानों की यात्राएं कीं, अगणित महामानवों से उनकी भेंट हुई और अगणित बार उनके सामने देव-विभूतियां प्रकट हुईं। भगवान महावीर के तप के दिनों का—साढ़े बारह वर्षों का इतिहास बड़ा ही अद्भुत, हृदय-द्रावक और प्रेरक है।

तप के दिनों में, जब वर्षा ऋतु आती थी, तो वे किसी स्थान में रहकर चातुर्मास व्यतीत किया करते थे। उन्होंने साढ़े बारह

वर्षों के लम्बे समय में कितने स्थानों में चातुर्मास व्यतीत किया—यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, फिर भी जैन-शास्त्रों में इस प्रकार के कुछ विशिष्ट स्थानों के नामों की तालिका अवश्य मिलती है। जैन-शास्त्रों और विद्वानों के मतानुसार भगवान महावीर ने प्रथम चातुर्मास अस्थि-ग्राम में बिताया था। उसके पश्चात् का चातुर्मास नालन्दा में व्यतीत हुआ था। चम्पापुरी, पृष्टचम्पा, राजग्रह, कौशाम्बी, लाढ़, कुमार-ग्राम और उज्जैन आदि स्थानों में भी उन्होंने चातुर्मास व्यतीत किये थे।

भगवान महावीर के चातुर्मासों के स्थानों के साथ बड़ी ही प्रेरक कहानियां जुड़ी हुई हैं। उन कहानियों से एक ओर तत्कालीन समाज की कायरता, कदाचार और पापाचार का चित्र अंकित होता है तो दूसरी ओर भगवान महावीर के अदम्य साहस, त्याग, धैर्य, सहनशीलता, दया और क्षमा का चित्र वनता है, जिसके फलस्वरूप वह जगत् में 'महावीर' और 'अतिवीर' की गौरवमयी उपाधियों से विभूषित हुए। उचित ही होगा, यहां उन प्राण-प्रेरक कथाओं में से कुछ का चित्रण किया जाए, क्योंकि उन कथाओं का चित्रण किये बिना भगवान महावीर के उस अजेय पौरुष का चित्र साकार न होगा, जिसके लिए वह जन-जन में पूजे जाते हैं।

भगवान महावीर उन दिनों लाढ़ में थे। लाढ़ बंगाल के दिनाजपुर जिले में बाणगढ़ के समीप है। उन दिनों लाढ़ में अनार्यों का आधिपत्य था। वे बड़े हिंसक, क्रूर और पिशाच-वृति के थे। भगवान महावीर जब अपना चातुर्मास व्यतीत

करने के लिए लाढ़ पहुंचे तो अनार्यों की कोप-ज्वाला भड़क उठी। भगवान महावीर का अमृत उन्हें अच्छा नहीं लगता था। वे अहिंसा, सत्य, सदाचार और न्याय के पूर्ण विरोधी थे। दूसरे शब्दों में वे अनार्य थे। वे नहीं चाहते थे कि भगवान महावीर लाढ़ में चातुर्मास व्यतीत करें। पर भगवान तो भय से परे थे। उन्हें न कष्टों से भय था और न मृत्यु से। वह कष्टों, विघ्न-बाधाओं और मृत्यु को पराजित करने के लिए ही तो घूम रहे थे। उन्हें लाढ़ से कौन हटा सकता था ? वह लाढ़ में ही रुककर चातुर्मास व्यतीत करने लगे। पर लाढ़ के वे अनार्य क्यों मानने लगे ?

लाढ़ के अनार्यों ने महावीर स्वामी को अपमानित करना प्रारम्भ कर दिया। ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे, वे अपने कुत्सित व्यवहारों से भगवान को डिगाने का प्रयत्न करने लगे। किन्तु उनके सभी अपमान-बाण व्यर्थ सिद्ध हुए। न तो भगवान महावीर के मन में रोष पैदा हुआ, न वह रंचमात्र विचलित हुए। वह लाढ़ के अनार्यों के अपमानपूर्ण वचन और व्यवहार को उसी प्रकार सहन करते रहे, जिस प्रकार कोई मुकोमल पुष्पों की चोट को सहन करता है। पर क्या इससे अनार्य मौन हो गए ? नहीं, वे शीघ्र ही मौन होने वाले न थे। वे और भी आगे बढ़े। वे भगवान महावीर को शारीरिक यंत्रणाएं देने लगे। उन्होंने भगवान महावीर पर अस्त्र-शस्त्र फेंके, उन पर शिकारी कुत्ते छोड़े। पर वाह रे भगवान महावीर का धैर्य ! वह फिर भी न डिगे।

लाढ़ के अनार्यों ने भगवान महावीर को और भी बड़ी-

बड़ी यंत्रणाएं दीं, पर भगवान महावीर का आसन न हिला। वह भय और रोष से दूर, अविचल-भाव से यंत्रणाओं को सहन करते रहे। आखिर वह दिन भी आया, जब हिंसा अहिंसा के चरणों पर झुकी। लाढ़ के अनार्यों ने भगवान महावीर के अतुल पराक्रम और उनकी भगवत्ता का अनुभव किया। वे साश्रुनयन उनके चरणों पर गिरे और उनसे अपने अपराधों तथा कुकृत्यों के लिए क्षमा मांगने लगे। भगवान महावीर तो क्षमा के अवतार थे। दुराचारियों, अत्याचारियों और अधर्मियों को सच्चे पथ पर लाकर, उन्हें क्षमा देने के लिए ही तो वह धरा-धाम पर आये थे। उन्होंने उन अनार्यों को क्षमादान तो दिया ही, अपितु उन्हें सच्चे मार्ग पर भी लगा दिया।

कौशाम्बी के चातुर्मास में भगवान महावीर ने चन्दना का उद्धार करके उसे इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ बना दिया। चन्दना के उद्धार और उसके जीवन की कहानी बड़ी ही प्रेरणाप्रद है

चन्दना महाराणी त्रिशला की सगी बहन थी। सबसे छोटी थी। चन्दना और त्रिशला के बीच में एक और बहन थी, मृगावती। पर भाग्य का चक्र ही तो है। कर्मों के विपाक के कारण त्रिशलादेवी और मृगावती को तो पुष्पों की शैया प्राप्त हुई, पर बेचारी चन्दना को मिलीं कांटों की झाड़ियां। बड़े दुःख भोगे चन्दना ने, यहां तक कि उसे दासी के रूप में नीलाम होना पड़ा। पर धन्य है भगवान महावीर की अनुकम्पा! उन्होंने एक दिन, उसी निरीह-अपमानिता चन्दना के हाथों से भोजन ग्रहण करके उसके जीवन को वन्दनीय बना दिया।

चन्दना का आरम्भिक जीवन बड़ा ही गर्वित था। वह राजकन्या तो थी ही, रूप और सौन्दर्य की छटा उसके मुख-मण्डल पर झिलमिलाया करती थी। वह राजभवन की ही नहीं, समूचे नगर की शोभा थी।

वसन्त के दिन थे। राजोद्यान पुष्पों से हंस रहा था। पुष्पों पर भौंरे मधुर स्वरों में गुंजन कर रहे थे। चन्दना भी उद्यान में घूम-घूमकर गुनगुना रही थी, भौंरों के स्वर में स्वर मिला रही थी।

हठात्, एक विद्याधर की दृष्टि चन्दना पर पड़ी। वह आकाश-मार्ग से उड़ता हुआ जा रहा था। पर चन्दना को देखकर वह रुक गया। चन्दना उसके मन-प्राण में समा गई। वह नीचे उतरा, और चन्दना को लेकर, फिर आकाश-मार्ग से उड़ चला।

चन्दना रोयी-चिल्लाई, पर विद्याधर नें उसे न छोड़ा। चन्दना किसी प्रकार अपनें शील-धर्म की रक्षा करती रही। पर विद्याधर उसके शील-धर्म को नष्ट करना ही चाहता था। संयोग की बात, कहीं से घूमती-फिरती विद्याधरी आ पहुंची। विद्याधर अब क्या करता? उसने चन्दना को ले जाकर एक भयानक वन में छोड़ दिया।

चन्दना उस भयानक वन में इधर-उधर घूमने लगी। चारों ओर हिंसक पशु, अकेली चन्दना! बेचारी भूखी-प्यासी, पर करे तो क्या करे? आखिर एक भील से उसकी भेंट हुई। भील चन्दना को देखकर विस्मित हो उठा। ऐसा रूप, ऐसा सौन्दर्य—उसनें कभी देखा नहीं था। उसनें सोचा, अवश्य

यह कोई देवी या अप्सरा है। वह चन्दना को अपने सरदार के पास ले गया।

चन्दना को देखते ही भील सरदार के मन में वासना का विष घुल गया। वह उसे अपनी स्त्री बनाने के मन्सूबे बांधने लगा। पर चन्दना क्यों मानने लगी ? वह तो एक शीलवती, सदाचारिणी स्त्री थी। पर भील सरदार भी यों ही उसे छोड़ने वाला नहीं था। वह उसे डराने-धमकाने लगा, भांति-भांति की यंत्रणाएं देने लगा, फिर भी चन्दना उसके वश में न आयी। वह अपने पवित्र विचारों पर दृढ़ रही।

उन दिनों दास-प्रथा का प्रचलन था। स्त्री-पुरुष दास-दासियों के रूप में उसी प्रकार बेचे जाते थे, जिस प्रकार पशु बेचे जाते हैं। चन्दना जब किसी प्रकार भील सरदार के वश में न आयी तो वह चन्दना को लेकर कौशाम्बी नगर में पहुंचा और चौराहे पर खड़ा होकर उसकी बोली लगाने लगा।

भील सरदार बोली लगा रहा था कि दूसरी ओर से नगरसेठ उधर से निकला। उसने चन्दना को देखा। वह चन्दना का मूल्य चुकाकर उसे अपने घर ले गया और धर्म-पुत्री की भांति उसका पालन-पोषण करने लगा।

यद्यपि नगरसेठ का हृदय पवित्र था, वह चन्दना को अपनी धर्म-पुत्री समझता था, पर फिर भी चन्दना के प्रति नगरसेठ के स्नेह को देखकर उसकी स्त्री के मन में सन्देह पैदा हो उठा। उस सन्देह का कारण था चन्दना का रूप-सौन्दर्य। वह मन-ही-मन सोचने लगी, कहीं नगरसेठ चन्दना के रूप-जाल में फंसकर उसे अपनी पत्नी न बना ले। अतः नगरसेठ की पत्नी

चन्दना के साथ दासी का-सा कटु व्यवहार करने लगी, उसे अपने तीखे व्यवहार से उसके हृदय को दग्ध करने लगी। चन्दना करती तो क्या करती ? वह सब कुछ सहन करती हुई नगरसेठ के घर पड़ी रही।

उन दिनों भगवान कौशाम्बी में ही चातुर्मास व्यतीत कर कर रहे थे। एक दिन जब वह भोजन के लिए नगर की ओर चले, तो उन्होंने संकल्प किया कि आज वे उसी युवती के हाथ का भोजन ग्रहण करेंगे, जिसका सिर मुंडा हुआ होगा, जो पराधीनता के बन्धनों से जकड़ी हुई होगी और जिसके मुंह पर हंसी और आंखों में आंसू होंगे। यदि इस प्रकार की युवती के हाथों का भोजन न मिलेगा, तो फिर आज वह भोजन ग्रहण न करेंगे।

दोपहर का समय था। सारा कौशाम्बी नगर भगवान महावीर की जय-जयकार से गूंज उठा। नगर में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक विद्युत्-तरंग की भांति समाचार गूंज उठा—"भगवान महावीर आहार के लिए आ रहे हैं।"

भगवान महावीर आहार के लिए नगर में घूमने लगे। द्वार-द्वार पर लोग भगवान महावीर की प्रतीक्षा करने लगे। चन्दना भी कोदों का भात लेकर भगवान की बाट देखने लगी।

भगवान महावीर बड़े-बड़े सेठों, अमीरों और नागरिकों के आहारों को छोड़ते हुए चन्दना के द्वार पर पहुंचे। उन्होंने बड़े प्रेम से आहार के रूप में चन्दना का कोदों का भात ग्रहण किया। चन्दना धन्य हो गई। बड़े-बड़े सेठ, नागरिक और नृपति भी चन्दना के भाग्य की सराहना करने लगे। लोग झुण्ड-

के-झुण्ड बनाकर चन्दना के दर्शनों के लिए दौड़ पड़े और उसके चरणों की धूलि अपने मस्तक पर लगाने लगे।

कौशाम्बी की राज-महीषी मृगावती को जब यह समाचार मिला, तो वह भी चन्दना के दर्शनार्थ उसके द्वार पर जा पहुंचीं। किन्तु उन्हें क्या पता था कि चन्दना कोई और नहीं, उनकी ही छोटी बहन है। उन्होंने जब चन्दना को देखा, तो उनकी आंखों में शोक और हर्ष के आंसू छलक आये। शोक के आंसू इसलिए कि चन्दना को राज-पुत्री होने पर भी दासी का जीवन व्यतीत करना पड़ा और हर्ष के आंसू इसलिए कि उसकी बहन चन्दना के हाथों से भगवान महावीर ने आहार ग्रहण किया था। वह बड़े आदर के साथ चन्दना को अपने राजभवन में ले गईं। पर अब तो चन्दना ऐसे महान् सौभाग्य की अधिकारिणी बन गई थी कि उस पर धरती के नहीं, स्वर्ग के सौ-सौ राजभवन निछावर किये जा सकते थे। भगवान महावीर ने उस पर अनुकम्पा करके उसके जीवन को बहुत ऊंचा उठा दिया था—इतना ऊंचा कि उसकी ऊंचाई को स्पर्श करने में देवताओं का देवत्व भी अपने को असमर्थ पाता था।

भगवान महावीर गंगा की रेती से होकर जा रहे थे। उनके पैरों के चिह्न रेती पर पड़ते जा रहे थे। उन पगचिह्नों पर जब पुष्प नामक ज्योतिषी की दृष्टि पड़ी तो उसने उन्हें देखकर मन-ही-मन सोचा, ये पग-चिह्न जिस महापुरुष के हैं, वह अवश्य ही चक्रवर्ती सम्राट है। पुष्प उन चक्रवर्ती सम्राट के दर्शनार्थ आगे की ओर बढ़ने लगा। कुछ दूर जाने पर उसने भगवान महावीर को अशोक वृक्ष के नीचे खड़े देखा। वह

भगवान महावीर के निकट जा पहुंचा। उसने बड़े ध्यान से भगवान को देखा। उनके मस्तक पर मुकुट और भुजाओं में चक्र के चिह्न थे। वह सोचने लगा—अवश्य यह चक्रवर्ती सम्राट हैं। इनके शरीर में वे सभी लक्षण विद्यमान हैं जो शास्त्रों में चक्रवर्ती सम्राट के लिए बताए गए हैं। पर शीघ्र ही पुष्प के मन में वास्तविकता प्रकट हो गई। उसने अनुभव किया कि यह तो सम्राट नहीं, सम्राटों के भी सम्राट हैं—चौबीसवें तीर्थंकर हैं। तीर्थंकर! हां, तीर्थंकर—जिनकी सांसों से सुगन्ध का प्रवाह निकलता है, जो रोगों के जेता हैं, जिनका शरीर मल-मूत्र से रहित है और जिनके शरीर का मांस और रक्त दूध की भांति होता है। पुष्प ने भगवान महावीर की बार-बार अभिवन्दना की।

एक बार स्वर्ग की देवांगनाओं के मन में भी पुष्प की भांति ही सन्देह जागृत हो उठा। भगवान के शरीर की स्वर्ण-कान्ति देखकर देवांगनाओं ने सोचा, हो नहीं सकता कि ऐसे स्वस्थ और सुन्दर पुरुष के मन में काम-वासना न उत्पन्न हो। देवांगनाएं भगवान महावीर के संयम की परीक्षा लेने के लिए उद्यत हो उठीं।

वसन्त के दिन थे। चारों ओर वन-वाटिकाएं पुष्पों से लदी थीं। पक्षी सुमधुर स्वरों में चहचहा रहे थे। भगवान महावीर एक पुष्पित उद्यान के मार्ग से होकर जा रहे थे। सहसा उनके सामने देव-बालाएं प्रकट हो उठीं। वे एक-से-एक सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से अलंकृत थीं। सब-की-सब प्रकट होकर नृत्य करने लगीं, गाने लगीं, कामुक हाव-भाव प्रदर्शित करने लगीं

और अपने कटाक्ष का अभिनय करने लगीं। पर उनके कटाक्षों और अश्लीलतापूर्ण भावों का भगवान महावीर पर रंचमात्र भी प्रभाव न पड़ा। प्रभाव पड़ने की कौन कहे, भगवान महावीर ने उनकी ओर दृष्टि उठाकर देखा तक नहीं। आखिर वे हारकर भगवान महावीर से अपने अपराधों के लिए बारम्बार क्षमा मांगने लगीं।

भगवान महावीर की यश-गाथा चारों ओर फैल गई। वह कामजयी के रूप में समादृत किए जाने लगे।

भगवान महावीर उन दिनों कुमारग्राम में थे। एक दिन वह मार्ग में चले जा रहे थे। एक खेत के पास पहुंच बैठ गए और ध्यानस्थ हो गए। पास ही एक दूसरे खेत में एक कृषक हल चला रहा था। उसके हल में दो हृष्ठ-पुष्ट बैल जुते हुए थे।

हठात् कृषक को भैंसों के दुहने का स्मरण हो आया। वह अपने बैलों को भगवान महावीर की रखवाली में छोड़कर भैंसों को दुहने के लिए अपने घर चला गया। पर भगवान तो ध्यानस्थ थे। उन्हें क्या पता कि कौन कृषक और किसके बैल!

बैल तो बैल ठहरे! वे कृषक के जाते ही इधर-उधर चले गए। कुछ देर बाद कृषक लौटा तो उसने महावीर भगवान से अपने बैलों के सम्बन्ध में पूछताछ की। पर वह क्या उत्तर देते? वह तो मौन थे, ध्यानस्थ थे। कृषक व्याकुल हो उठा और अपने बैलों को खोजने लगा। पर उसके बैल न मिले। वह रातभर अपने बैलों की खोज में मारा-मारा फिरता रहा।

कृषक का नाम गोपाल था। प्रभात होने पर गोपाल फिर

उस स्थान पर आया, जहां महावीर भगवान ध्यानस्थ थे। गोपाल ने बड़े विस्मय के साथ देखा कि उसके दोनों बैल भगवान के चरणों के पास बैठे हुए हैं। बस, फिर क्या था ? उसके मन में क्रोध की ज्वाला भड़क उठी। उसने सोचा, मैं तो रातभर इन बैलों के लिए जंगल में भटकता रहा, और यहां ये इस साधु के पास बैठे हुए हैं। अवश्य यह साधु पाखण्डी है। इसनें जान-बूझकर ही मेरे साथ विश्वासघात किया है। मैं इसे इसके इस विश्वासघात का दण्ड दिए बिना न रहूंगा।

यह सोचकर गोपाल नें भगवान महावीर पर प्रहार करनें के लिए ज्योंही अपनी लाठी उठाई कि देवराज इन्द्र नें छद्म वेश में प्रकट होकर उसकी लाठी पकड़ ली और बोले—"मूर्ख, तू यह क्या अनर्थ कर रहा है ? क्या तू जानता नहीं यह कौन हैं ? यह तो राजकुमार वर्द्धमान हैं, जो अपना सर्वस्व त्यागकर लोक-कल्याण के लिए तप में संलग्न हैं।"

गोपाल अज्ञानवश हुए अपनें अपराध के लिए क्षमा मांगकर चला गया। पर इन्द्र ने श्रमण महावीर से कहा—"भन्ते, आपका साधना-काल लम्बा है। इस प्रकार के उपसर्ग और संकट आगे और भी अधिक आ सकते हैं। अतः आपकी परम पवित्र सेवा में मैं आपके निकट रहनें की कामना करता हूं।"

गोपाल का विरोध और इन्द्र का अनुरोध भगवान महावीर नें सुना तो, पर अभी तक वह अपनें समाधि-भाव में ही स्थिर थे। समाधि खोलकर बोले—"इन्द्र, आज तक आत्म-साधकों के इतिहास में न कभी यह हुआ और न होगा, कि मुक्ति-मोक्ष या कैवल्य दूसरे के बल पर, दूसरे के श्रम और

सहायता पर प्राप्त किया जा सके।"

भगवान महावीर की समत्व-दृष्टि को देखकर देवराज इन्द्र को भी उनके सम्मुख विनत हो जाना पड़ा। भगवान महावीर को छोड़कर इस जगत में और दूसरा कौन हो सकता है, जो शासक और सेवक को एक ही दृष्टि से देखेगा, एक ही समान समझेगा।

गोपाल की भांति ही चण्ड कौशिक ने भी भगवान महावीर को अत्यन्त पीड़ा पहुंचाने का दुस्साहस किया था। पर उसे भी भगवान महावीर के अडिग धैर्य और प्रेम के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ा। चण्ड कौशिक एक महाविषधर सर्प था। उसके अत्याचार की कहानी भी भगवान महावीर के प्रबल पराक्रमत्व पर प्रकाश डालती है।

एक तपस्वी था। शिष्य के बार-बार कुछ कह देने पर उसे क्रोध आ गया और वह उसे मारने के लिए दौड़ा परन्तु रात के अंधेरे में खम्भों से टकराकर वह मर गया।

तपस्वी मरकर भी अपने तपोबल से फिर तापस बना—आश्रम का अधिपति। नाम था उसका चण्ड कौशिक। एक बार आश्रम में ग्वाल-बाल फूल तोड़ने के अभिप्राय से आ घुसे और फल-फूल तोड़ने लगे। चण्ड कौशिक ने देखते ही उन्हें ललकारा, किन्तु वे न माने, भीतर आ घुसे। अब की बार चण्ड कौशिक को प्रचण्ड क्रोध आ गया। वह कुल्हाड़ी लेकर मारने दौड़ा। क्रोधावेश में ध्यान न रहने पर वह कुएं में जा गिरा और मर गया।

प्रचण्ड क्रोध के क्षणों में मृत्यु होने से चण्ड कौशिक

तापस उसी वन में विषदृष्टि-सर्प बना। विषधर और भयंकर सर्प के भय से लोगों ने उधर जाना बन्द कर दिया।

एक बार परम प्रभु महावीर साधना करते-करते उस वन में जा निकले। लोगों ने उन्हें मना भी किया। पर अभय को भय क्या? श्रमण महावीर को विषदृष्टि चण्ड कौशिक नागराज ने ज्यों ही देखा, फुंकार मारने लगा, विष की ज्वालाएं उगलने लगा। वीर प्रभु भी उसके बिल के पास ही अडिग और स्थिर होकर खड़े रहे। दोनों ओर से बहुत देर तक संघर्ष होता रहा। एक ओर से क्रोध रूपी महादानव रह-रहकर विष की ज्वाला उगलता रहा और दूसरी ओर से छूटती रही क्षमा की अमृत पिचकारी। आखिर चण्ड कौशिक विष उगलते-उगलते थक गया और पराजित होकर वीर प्रभु के चरणों के पास लोटने लगा। प्रभु ने अपने क्षमा-अमृत से उसके विष की ज्वाला सदा के लिए शान्त कर दी। लोगों ने आश्चर्य से देखा कि अब विषदृष्टि सर्प के मुंह से विष के स्थान पर दूध की धारा बह रही है। धन्य हैं वीर प्रभु और धन्य है उनकी क्षमा! इसीलिए तो सम्पूर्ण विश्व क्षमावतार के रूप में उनका अभिनन्दन करता है।

उज्जैन के चातुर्मास की कथा भी भगवान महावीर के अनुपम शौर्य और वीरत्व का ही चित्र उपस्थित करती है। उन दिनों उज्जैन में बलि-प्रथा का बड़ा ज़ोर था। महाकाल की पूजा में प्रायः पशुओं की बलि दी जाती थी। भगवान महावीर जब उज्जैन में अपना चातुर्मास व्यतीत करने लगे, तो श्मशानवासी भव नामक रुद्र के मन में कोप की ज्वाला भड़क

उठी, क्योंकि वह भगवान महावीर के अहिंसक विचारों से परिचित था। वह नहीं चाहता था कि भगवान महावीर उज्जैन में रहें। उसे डर था कि यदि भगवान महावीर उज्जैन में रहेंगे तो उज्जैन की जनता पर उनकी अमृत-वाणी का प्रभाव पड़ेगा और बलि-प्रथा बन्द हो जायगी। फलतः वह महावीर स्वामी पर भांति-भांति के अत्याचार करने लगा। उन्हें यंत्रणाओं की आग में जलाने लगा। पर क्या भगवान महावीर विचलित हुए। रुद्र की कोपज्वाला में भी उनकी हिंसा हिमालय की भांति दृढ़ बनी रही। आखिर उस रुद्र को भी हिंसा की दानवी प्रवृत्ति छोड़कर भगवान महावीर की शरण में जाना पड़ा।

इस प्रकार भगवान महावीर साढ़े बारह वर्षों तक तप और साधना में संलग्न रहे। उनके तप और साधनाकाल की कुछ कहानियों का ऊपर उल्लेख किया गया है जिनसे भगवान महावीर के अटूट धैर्य, साहस, वीरता और पौरुष का चित्र पाठकों के सामने उपस्थित होता है। पर सच बात तो यह है कि भगवान महावीर को अपरिमित धैर्य, साहस और सहिष्णुता का साक्षात् अवतार कहना ही अधिक न्याय-संगत होगा। साधना-काल में गोपाल, शूलपाणि, यक्ष, संगमदेव, चण्डकौशिक नाग, गोशालक और लाढ़ देश के अनार्यों ने उन्हें जो पीड़ाएं पहुंचाईं और उन पीड़ाओं पर वीर महाप्रभु ने जिस क्षमा को प्रकट किया, वह अभूतपूर्व है। विश्व के इतिहास में ऐसे अनेक साधक हुए हैं, जिन्होंने बड़ी-बड़ी साधनाएं की हैं, किन्तु रोमांचकारी पीड़ाओं और यंत्रणाओं के मध्य हिमालय की भांति अडिग रहकर

साधना करने वाले भगवान महावीर अपने ढंग के अकेले ही हैं। तप और साधना-काल में असाधारण वीरता और शौर्य प्रकट करने पर वह जगत में 'महावीर' और 'अतिवीर' के नाम से विख्यात हुए हैं।

भगवान महावीर के साधना-काल के जो वृत्तान्त जैन-शास्त्रों में मिलते हैं, उन्हें पढ़कर हृदय कांप उठता है। भगवान महावीर ने साधना-काल में रोमांचकारी उत्पीड़ाओं को तो सहन किया ही, उन्होंने स्वयं भी अपने शरीर को संयम की आग में तपाया। साढ़े बारह वर्षों के साधना-काल का अधिकांश उन्होंने बिना भोजन और जल के ही व्यतीत किया था। भगवान महावीर ने साढ़े बारह वर्षों में कुल मिलाकर तीन सौ उन्तालीस दिन भोजन किया। शेष दिनों वह उपवास में रहे। यह बात तो और भी अधिक विस्मयकारिणी है कि उन्होंने एक अपवाद के अतिरिक्त कभी निद्रा नहीं ली। उन्हें जब नींद आने लगती तो वह चक्रमण क्रिया के द्वारा निद्रा को दूर कर दिया करते थे। वह सदा जागृत रहने का ही प्रयत्न किया करते थे।

घोर यंत्रणाओं और पीड़ाओं पर विजय प्राप्त करने के साथ ही भगवान महावीर के हृदय में दिव्य-ज्ञान का सूर्य प्रकट हुआ। वह सर्वज्ञ और समदर्शी पद पर प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने इस महान पथ पर प्रतिष्ठित होकर विश्व को जो अमृत पिलाया, उससे विश्व की प्यास मिट गई, मानव-समाज की मनोव्यथा दूर हो गई।

अज्ञान का तम ढला, सच्चे ज्ञान की किरण फूटी

साढ़े बारह वर्षों तक घोर साधना करने के पश्चात् बिहार प्रदेशान्तर्गत जम्भिक गांव के समीप ऋजुकुला नदी के तट पर, साल वृक्ष की छाया में भगवान महावीर के हृदय में दिव्य-ज्ञान का सूर्य उदय हुआ। कितना पावन था वह दिन, कितनी मंगलमय थी वह घड़ी। मानव-समाज के इतिहास में वह दिन और वह घड़ी एक स्मरणीय कथा बनकर सदा अमर रहेगी। क्योंकि जिस ज्ञान-सुधा को पीकर आज धरती के कोटि-कोटि मनुष्य संतृप्त हो रहे हैं, वह भगवान महावीर के हृदय में उसी समय बहा था। आज भी जब उस दिन और घड़ी के सम्बन्ध में सोचते हैं, तो हृदय अपार आनन्द, उल्लास और हर्ष से भर जाता है।

भगवान महावीर को वास्तविक पंथ प्राप्त हो गया, जिसे खोजने के लिए वह अब तक भगीरथ प्रयत्न में संलग्न थे। वह पूर्ण रूप से इस बात के ज्ञाता बन गये—जीवन क्या है, जगत

क्या है, आत्मा क्या है, शरीर क्या है और मृत्यु क्या है? इतना ही नहीं, उन्होंने इस रहस्य को भी भली-भांति समझ लिया कि निर्वाण क्या है, मोक्ष क्या है, कैवल्य क्या है और उसकी प्राप्ति मनुष्य को किस प्रकार हो सकती है? एक ओर तो वह सर्वज्ञ बने और दूसरी ओर उन्होंने क्रोध, ईर्ष्या, विरोध, रोग, दुःख और जरा आदि पर विजय प्राप्त करके प्रयत्न अवस्था में प्रत्येक स्थिति में अपनी समदर्शिता स्थापित की। भगवान महावीर इस प्रकार पूर्ण समदर्शी बनकर ज्ञान का शंख फूंकने के लिए निकल पड़े। उन्होंने तीस वर्षों तक निरन्तर बहुत से स्थानों का भ्रमण करके ज्ञान का प्रचार किया। उन्होंने कितने ही मनुष्यों के हृदय के अज्ञानांधकार को दूर किया। उन्होंने कितने ही मनुष्यों के ताप को मिटाया, कितनों ही के जीवन को वास्तविक पंथ पर चलने के लिए प्रेरणा दी और कितनों ही को निर्वाण प्राप्त करने में सहायता प्रदान की। उनके ज्ञान को पाकर, उनकी कृपा-सुधा को पीकर मानव-समाज धन्य हो उठा, आपदा और दुखों के बन्धनों से मुक्त हो गया।

भगवान ने तीस वर्षों तक घूम-घूमकर उपदेश दिए। अनेक मनुष्यों ने उनसे दीक्षा ग्रहण की। संत, गृहस्थ, बड़े-बड़े नृपति आदि सभी उनके संघ में शामिल हो गए। उनके संत-शिष्यों की संख्या चौदह सहस्र थी। उनमें ग्यारह प्रधान थे। जैन-परम्परा में ये सभी प्रधान शिष्य 'गणधर' के रूप में विख्यात हैं। ये पहले वैदिक मतावलम्बी थे। इनमें कई महान् पंडित थे और समाज में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। गौतम,

इन्द्रभूति का इनमें विशेष स्थान था। भगवान महावीर से शास्त्रार्थ में पराभूत होने पर इन्होंने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया था।

भगवान महावीर के अगणित गृहस्थ शिष्य थे। पर उनमें मगधाधिपति श्रेणिक, वैशालीपति चेटक, अवन्तिपति चण्ड प्रद्योत आदि का प्रमुख स्थान था। आनन्द, कामदेव आदि लाखों श्रावक थे, जिनमें शकटाल जैसे कुमार भी थे। वीरांगक, वीरयक्ष, संजय, एणेयक, सेम, शिव, उदयन और शंख आदि नृपतियों ने भगवान से प्रव्रज्या ग्रहण की थी। राजकुमारों और राजकुमारियों ने भी भगवान महावीर के उपदेशों से प्रभावित होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था। राजकुमारों में अभयकुमार, मेघकुमार आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार राजकुमारियों में चन्दनबाला, देवानन्दा आदि का नाम उल्लेखनीय है। यों भगवान के साध्वी-संघ में सम्मिलित होने वाली स्त्रियों की संख्या छत्तीस सहस्र थी।

भगवान महावीर के इन संत, गृहस्थ और नृपति स्त्री-पुरुष शिष्यों में किसी-किसी के साथ ऐसी कहानियां जुड़ी हैं, जिनसे भगवान की प्रभावमयता और उनके उत्कट ज्ञान पर अधिक प्रकाश पड़ता है।

भगवान महावीर ने सर्वप्रथम मगध में अपनी अहिंसा का विजयकेतु उड़ाया। पूर्ण सर्वज्ञ होने के पश्चात् वह मगध में आए और अपने अहिंसा-मन्त्र से लोगों को दीक्षित करने लगे। उन दिनों सारे मगध में बलि-प्रथा का प्रचलन था। लोगों में यह

धारणा जोरों से फैली हुई थी कि यज्ञ में पशुओं की बलि देने से देवी-देवता प्रसन्न होते हैं, अतः लोग अपने कल्याणार्थ बिना किसी हिचक के पशुओं की बलि दिया करते थे। उन दिनों इस बलि-प्रथा का प्रचारक सुमति शांडिल्य था। वह बड़ा प्रतापी था। समाज में उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। लोग उसकी पूजा किया करते थे और उसे सर्वोपरि मनुष्य मानते थे।

सुमति की दो पत्नियां थीं। एक का नाम सुलक्षणा था और दूसरी का केसरी। सुलक्षणा से दो पुत्र पैदा हुए थे, जिनमें एक का नाम इन्द्रभूति था और दूसरे का अग्निभूति। केसरी से केवल एक ही पुत्र था और उसका नाम वायुभूति था। ये तीनों भाई बहुत बड़े विद्वान थे। शास्त्रों में उनकी अच्छी गति थी। पर वे विनयी नहीं थे। विद्या का अहंकार सदैव उनके हृदयों को उद्वेलित किया करता था।

तीनों भाइयों में इन्द्रभूति सबसे अधिक सम्मानित थे। विद्या, बुद्धि और ज्ञान—तीनों क्षेत्रों में वे अपना अप्रतिम स्थान रखते थे। समाज में भी उन्हें सर्वाधिक कीर्ति प्राप्त थी। समाज के छोटे-बड़े सभी उनके कथन को शास्त्र-वाक्य मानते थे। वह जिस ओर चलते थे, उसी ओर समाज भी चलता था। स्पष्ट था कि बिना इन्द्रभूति को पराभूत किए भगवान महावीर के अहिंसा-प्रचार का मार्ग सुगम नहीं हो सकता था।

देवराज इन्द्र ने भगवान महावीर के अहिंसा-प्रचार-मार्ग को सुगम बनाने के लिए उपाय ढूंढ ही निकाला, और उन्होंने अपने उस उपाय को कार्य-रूप में भी परिणत कर दिया। एक दिन प्रभात का समय था, इन्द्रभूति कहीं यज्ञ कराने जा रहे थे।

यज्ञ में बहुत से पशुओं की बलि दी जाने वाली थी। मार्ग में इन्द्रभूति को बहुत से लोग समूह बनाकर जाते हुए दिखाई पड़े। इन्द्रभूति ने उन मनुष्यों को देखकर मन-ही-मन सोचा, अवश्य ये लोग उनके यज्ञ में ही सम्मिलित होने जा रहे हैं। पर जब वे यज्ञ-स्थान पर पहुंचे तो वहां उन्हें बहुत ही कम लोग दिखाई पड़े। वे आश्चर्यान्वित हो उठे। उन्होंने उन मनुष्यों के सम्बन्ध में पूछा, जो समूह के रूप में जा रहे थे।

इन्द्रभूति को बताया गया कि वे सभी भगवान महावीर का उपदेश सुनने के लिए गए हैं। भगवान महावीर का उपदेश सुनने के लिए !—इन्द्रभूति चकित हो उठे। वह क्रोधावेश में आकर सोचने लगे—'भगवान महावीर ! अवश्य वह कोई पाखण्डी साधु होगा, अपने तंत्र-मन्त्र से अपना स्वार्थ-साधन करता होगा।'

इन्द्रभूति सोच ही रहे थे कि एक वृद्ध बटुक उनकी सेवा में उपस्थित हुए। वह बटुक कोई और नहीं, स्वयं देवराज इन्द्र ही थे। उन्होंने निवेदन किया—"महाराज, मैं आपके समक्ष अपनी एक समस्या लेकर उपस्थित हुआ हूं। मेरे गुरुदेव ने मुझे एक श्लोक सुनाया, पर वे उसकी व्याख्या करने के पूर्व ही ध्यानस्थ हो गए। आपसे प्रार्थना है कि आप उस श्लोक का अर्थ बताकर, उसकी व्याख्या करने की कृपा करें।"

इन्द्रभूति अहंकारपूर्ण वाणी में बोल उठे—"अवश्य, अवश्य, उस श्लोक को सुनाओ, मैं उसका अर्थ बताकर व्याख्या भी करूंगा।"

इन्द्ररूपी बटुक ने अपने श्लोक को इन्द्रभूति के सामने

उपस्थित किया। श्लोक में त्रिकाल कौन-से हैं, छह द्रव्य क्या हैं, पंचास्तिकाय किसे कहते हैं, तत्त्वों से क्या तात्पर्य है, आत्मा क्या है, मोक्ष किसे कहते हैं, आदि-आदि बातों का चित्रण प्रश्न-वाचक रूप में किया गया था। इन्द्रभूति तो श्लोक में निहित प्रश्नों को जानकर विस्मित हो उठे, क्योंकि आज तक वह यज्ञ ही कराया करते थे। इन प्रश्नों की ओर तो कभी उनका ध्यान ही नहीं गया था।

इन्द्रभूति स्तब्ध होकर बोल उठे—"क्या इन प्रश्नों का कोई उत्तर दे सकता है?"

इन्द्ररूपी बटुक ने उत्तर दिया—"हां, दे सकते हैं और वह हमारे गुरु हैं।"

इन्द्रभूति पुनः बोल उठे—"यदि तुम्हारे गुरु इन प्रश्नों का उत्तर दे देंगे तो मैं सहर्ष उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लूंगा।"

इन्द्र यही तो चाहते थे। वह इन्द्रभूति के साथ भगवान महावीर की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने भगवान के समक्ष भी उस श्लोक के द्वारा उक्त प्रश्नों को उपस्थित किया। सर्वज्ञ भगवान बिना कुछ प्रकट किए हुए ही सब कुछ समझ गए। वह समझ गए कि यह बटुक कौन है, और इन्द्रभूति को क्यों मेरे पास लाए हैं? फिर तो भगवान महावीर श्लोक में निहित एक-एक प्रश्न का उत्तर देने लगे। उन्होंने सारे प्रश्नों के रहस्य खोलकर इन्द्रभूति के सामने उपस्थित कर दिए। इन्द्रभूति ने भगवान महावीर के उत्तरों को सुनकर बहुत-सी शंकाएं भी उपस्थित कीं। भगवान महावीर ने इन्द्रभूति की शंकाओं का

भी समाधान किया। इन्द्रभूति भगवान की ज्ञान-गरिमा से अत्यन्त प्रभावित हो उठे। उन्होंने भगवान महावीर के चरणों की अभिवन्दना की और उनके शिष्यत्व को स्वीकार किया। केवल इन्द्रभूति ने ही नहीं, उनके दोनों भाइयों ने भी भगवान महावीर का शिष्यत्व ग्रहण करके अपने जीवन को सार्थक बनाया।

गणधरों में इन्द्रभूति का प्रधान स्थान था। इन्द्रभूति के पश्चात् दस और प्रकांड वैदिक विद्वानों ने भगवान महावीर के दिव्यज्ञान से प्रभावित होकर उनसे दीक्षा ग्रहण की। ये ग्यारह विद्वान् गणधर के नाम से विख्यात हैं। ये ही भगवान महावीर के वीरसंघ के स्तम्भ भी थे। इनके नाम इस प्रकार हैं—१. इन्द्र-भूति, २. अग्निभूति, ३. वायुभूति, ४. शुचिदत्त, ५. सुधर्म, ६. मोइव्य ७. मौर्यपुत्र, ८. अकम्भन, ९. अचल, १०. मेदार्य और ११. प्रयास।

भगवान महावीर ने बिहार प्रदेश में चारों ओर अपनी विजय-पताका फहरा दी। तत्कालीन बिहार के बड़े-बड़े राजाओं ने भगवान महावीर से दीक्षा ग्रहण की। भगवान महावीर जहां-जहां गए, उन्होंने अपने अमृतमयी उपदेश दिए। कहा जाता है कि भगवान महावीर के विहारों के ही कारण बिहार 'बिहार' प्रदेश के नाम से विख्यात हुआ। बिहार के पश्चात् भगवान ने सारे भारत की यात्रा की। ज्ञान की मशाल लेकर वह ईरान, फारस आदि देशों में भी गए। भारत की भांति ही ईरान और फारस देशों में भी लक्ष-लक्ष मनुष्यों ने भगवान महावीर से दीक्षा ग्रहण करके अपने मानव-जीवन को सार्थक

बनाया। चूंकि उनका उपदेश प्राणी-मात्र की भलाई के लिए था, अतः समस्त विश्व के लोगों ने उसे स्वीकार करके अपना उद्धार किया।

अब हम उन गौरवपूर्ण कथाओं का वर्णन करेंगे, जिनमें भगवान महावीर के अदम्य ओज के साथ-ही-साथ उनके वंदनीय ज्ञान की यश-गाथा है।

गृहस्थ अनुयायियों में श्रेणिक की कहानी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और शिक्षाप्रद है। श्रेणिक का पूरा नाम श्रेणिक बिम्बसार था। वह मगध के नृपति थे। उनके पिता का नाम उपश्रेणिक था। जीवन के प्रथम चरण में ही किसी कारणवश उपश्रेणिक ने अप्रसन्न होकर बिम्बसार को घर से निकाल दिया था। बिम्बसार घर से निकलकर, निराश्रित, निरावलम्ब इधर-उधर घूमने लगे। आखिर कहीं आश्रय न पाकर वह बौद्ध बन गए और एक बौद्ध-मठ में सम्मिलित होकर अपने जीवन के दिन व्यतीत करने लगे।

पर बौद्ध-मठ में बिम्बसार का मन न लगा। कुछ दिनों के पश्चात् उन्हे मठ से अरुचि पैदा हो गई। वह मठ को छोड़कर सुदूर-दक्षिण में कांचीपुरम् जा पहुंचे। बिम्बसार बड़े मेधावी और तेजस्वी थे। राजपुत्र तो थे ही। उनके मुखमण्डल पर प्रताप और तेज झिलमिलाया करता था। कांचीपुरम् में उनके भाग्य के कपाट खुल गए। उन्होंने अपनी बुद्धिमत्ता और शौर्य के बल पर राजदरबार में स्थान प्राप्त कर लिया। उनका जीवन सुख, शान्ति के साथ बीतने लगा। राज-पुरोहित सोम शर्मा उनके गुणों को देखकर उन पर विमोहित हो उठे। उन्होंने अपनी

कन्या नन्दश्री का विवाह उनके साथ कर दिया। बिम्बसार का दूसरा विवाह विलासवती के साथ हुआ था। विलासवती केरल-नृपति मृगांक की पुत्री थी। केरल-नरेश मृगांक बिम्बसार का बड़ा आदर-सम्मान करते थे।

उन्हीं दिनों मगध के राज्य-शासन में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए। उपश्रेणिक की मृत्यु हो गई और उनके पश्चात् चिलातीपुत्र राजसिंहासन पर बैठे। पर कुछ ही दिनों के पश्चात् वह सब कुछ छोड़कर जैन साधु हो गए, और वन में चले गए। बिम्बसार को जब यह समाचार प्राप्त हुआ, तो वह शीघ्र ही मगध जा पहुंचे। वह राज-सत्ता को अपने हाथ में लेकर शासन करने लगे।

पर उस समय बिम्वसार जैन-धर्म के विरोधियों में थे। वह जैन-साधुओं की निन्दा तो करते ही थे, जैन धर्मावलम्बियों को कष्ट पहुंचाने में भी संकोच नहीं करते थे। एक दिन बिम्बसार पांच सौ शिकारी कुत्तों को लेकर एक वन में आखेट के लिए गए। वन में उन्हें एक साधु दिखाई पड़े, जो तप में संलग्न थे। साधु जैन थे और उनका नाम यमधर था। बिम्बसार के मन में जैन-साधुओं के लिए पहले से ही द्वेषाग्नि तो थी ही, यमधर को देखते ही वह भड़क उठी। उन्होंने अपने सभी शिकारी कुत्तों को संकेत किया और वे यमधर की ओर झपट पड़े। पर यमधर को किसी के राग-द्वेष से क्या तात्पर्य ? वह तो राग-द्वेषों के जेता थे। शिकारी कुत्तों के झपटने पर भी वह अपने स्थान पर हिमालय की भांति अडिग रहे। आश्चर्य, महान आश्चर्य, शिकारी कुत्ते यमधर के पास पहुंचकर, पूंछ हिला-हिलाकर

धरती पर लोटने लगे। यमधर की अहिंसा और उनकी क्षमा-शीलता ने शिकारी कुत्तों के हृदय में भी अमृत घोल दिया।

बिम्बसार ने इस घटना को विस्मय की दृष्टि से देखा तो, पर उनके मन पर उसका प्रभाव न पड़ा। उन्होंने इसका दूसरा ही अर्थ लगाया। वह मन-ही-मन सोचने लगे, अवश्य ही यह साधु कोई मायावी है। अपनी माया से ही इसने कुत्तों को वशीभूत कर लिया है। फिर तो उन्होंने तरकश से बाण निकाल-कर साधु पर चलाने आरम्भ कर दिए। पर आश्चर्य ! बिम्बसार के बाण यमधर को रंचमात्र भी क्षति नहीं पहुंचा सके। वह पहले की भांति ही तप में मग्न रहे।

पर इससे क्या बिम्बसार के मन की कोप-ज्वाला शान्त हो गई ? नहीं, वह तो और भी भड़क उठी। उन्होंने किसी प्रकार भी अपना वश चलता न देखकर एक मृत सर्प यमधर के गले में डाल दिया। पर इससे भी यमधर का क्या बिगड़ता ? वह पहले की भांति ही धीर, वीर और गम्भीर बने रहे।

बिम्बसार जब लौटकर अपने राजभवन में गए तो उन्होंने बड़े गर्व के साथ अपनी राजमहिषी चेलना को बताया कि आज उन्हें किस प्रकार एक साधु मिला था, किस प्रकार उन्होंने अपने शिकारी कुत्ते उस पर छोड़ दिए थे, किस प्रकार शिकारी कुत्ते उसके पास जाकर उसके चरणों में लोटने लगे थे, किस प्रकार उन्होंने उस पर बाण चलाए थे, किस प्रकार उनके बाण विफल हुए थे और किस प्रकार वह उसके गले में मृत सर्प डालकर नगर की ओर लौट पड़े थे। बिम्बसार ने राज-

महिषी चेलना को यह सब कुछ बताकर कहा, "जान पड़ता है, वह साधु कोई बहुत बड़ा जादूगर या तान्त्रिक है।"

पर राजमहिषी चेलना ने बिम्बसार की बात का विरोध किया। उन्होंने कहा—"नहीं, वह अवश्य कोई जैन मुनि हैं! आपने उन्हें दुःख देकर बहुत बड़ा पाप किया है। आपको अपने बुरे आचरणों के लिए प्रायश्चित करना चाहिए।"

पहले तो बिम्बसार ने राजमहिषी चेलना की बात को हंसी में उड़ा दिया, पर जब उन्होंने उन पर अधिक जोर डाला, तो वह राजमहिषी चेलना के साथ यमधर की सेवा में पुनः उपस्थित हुए। यमधर पूर्ववत् तपस्या में रत थे। उनके शरीर पर लाखों चींटियां चढ़ी हुई थीं। चींटियों ने काट-काटकर उनके शरीर को क्षत-विक्षत कर दिया था। पर आश्चर्य! वह फिर भी ध्यान में डूबे हुए थे।

राजमहिषी चेलना की आंखें सजल हो उठीं। उन्होंने अपने हाथों से यमधर के शरीर पर चढ़ी हुई चींटियों को हटाया और उनके शरीर पर चन्दन का लेप किया। प्रेम और श्रद्धा के स्पर्श से मुनि ने आंखें खोल दीं। बिम्बसार अपनी राजमहिषी चेलना के साथ उनके सामने खड़े थे। मुनि ने दोनों को एक साथ धर्म-वृद्धि का आशीर्वाद दिया, क्योंकि उनकी दृष्टि में उपकार या अपकार करने वाले में कोई अन्तर नहीं था। इस बात से बिम्बसार बहुत प्रभावित हुए। मुनि ने अपने आशीर्वाद से बिम्बसार के जीवन को बदल दिया। बिम्बसार मुनि की कृपा से जैन-धर्म के आराधक बन गए। मुनि के आदेशानुसार बिम्बसार विपुलाचल पर भगवान महावीर की

सेवा में उपस्थित हुए। भगवान महावीर के दर्शनों से बिम्बसार का जीवन धन्य हो उठा। वह जैन धर्म के अनन्य सेवक बन गए। उन्होंने बड़ी तन्मयता और लगन से 'वीर संघ' की सेवा की। कहा जाता है कि बिम्बसार को सबसे अधिक भगवान महावीर के उपदेशों को सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। भगवान ने अनेक विषयों पर उपदेश देकर बिम्बसार के हृदय में ज्ञान की अलौकिक ज्योति जागृत कर दी थी।

भगवान महावीर के राजकुमार अनुयायियों में अभय और मेघकुमार आदि की जीवन-कथाएं बड़ी ही सजीव और प्रेरणाप्रद हैं। अभय श्रेणिक बिम्बसार के राजकुमार थे। वे श्रेणिक के साथ ही साथ भगवान महावीर की सेवा में उपस्थित हुआ करते थे और उनके उपदेशामृत का पान किया करते थे। भगवान के उपदेशों से अभय अत्यन्त प्रभावित हुए, फलतः वह भी भगवान महावीर के उपासक बन गए।

भगवान महावीर ने अभय के पूर्वजन्म का वृत्तान्त बताकर उनके मन की गांठ खोल दी। भगवान ने प्रकट किया कि अभय पूर्वजन्म में एक ब्राह्मण-पुत्र थे। वेदों के पठन-पाठन में उनकी बड़ी रुचि थी। फिर भी वह मूर्खताओं में फंसे रहते थे। उनमें पांच प्रकार की मूर्खताएं थीं: १. वह पाखंडी थे, २. देवताओं में अन्धविश्वास रखते थे, ३. तीर्थों में अन्ध-भक्ति रखते थे, ४. जाति-बन्धनों में जकड़े हुए थे, और ५. अपने धर्म के बड़े कट्टर थे।

एक दिन मूढ़ताओं में जकड़े हुए उस ब्राह्मण-पुत्र की एक

श्रावक से भेंट हुई। श्रावक ने उसे सच्चे ज्ञान का उपदेश दिया। श्रावक ने उसे बताया कि 'धर्म की कट्टरता, तीर्थ, जाति-पांति, देव-पूजा—यह सब व्यर्थ है। मनुष्य को केवल सत्कर्म करना चाहिए। सत्कर्म ही पूजा है, सत्कर्म ही तीर्थ है और सत्कर्म ही महानता है। सत्कर्म ही है जो मनुष्यों को सुख और शान्ति प्रदान कर सकता है।' श्रावक के उपदेशों से प्रभावित हो ब्राह्मण-पुत्र सत्कार्यों में संलग्न हो गया। मृत्यु के पश्चात् वह अपने सत्कर्मों के परिणामस्वरूप राजा के घर जन्म लेकर राजकुमार पद पर प्रतिष्ठित हुआ। वह राजकुमार यही अभय है।

अभय अपने पूर्व-जन्मों के वृत्तान्तों को सुनकर और भी अधिक प्रभावित हुए। उनके मन में विरक्ति पैदा हो उठी। उन्होंने भगवान महावीर की सेवा में उपस्थित होकर उनसे प्रार्थना की कि वह उन्हें दीक्षा देकर अपनी शरण में लेने की कृपा करें। पर भगवान महावीर ने उन्हें तब तक दीक्षा देने में अपनी असमर्थता प्रकट की, जब तक वह दीक्षा के लिए अपने माता-माता की अनुमति न प्राप्त कर लें। पर यह तो सत्य ही है कि भगवान महावीर की अनुकम्पा से उनके हृदय में ज्ञान की ज्योति जल उठी थी।

अभय भगवान महावीर के आदेशानुसार अपने पिता से अनुमति प्राप्त करने के लिए राजसभा में उपस्थित हुए। उन्होंने सिंहासनासीन श्रेणिक को बड़ी श्रद्धा से प्रणाम किया। उन्होंने अपनी इच्छा पिता के सम्मुख रखने से पूर्व भूमिका के रूप में कई तत्त्वों का विवेचन किया। उनके सारगर्भित विवेचन को

सुनकर श्रेणिक और उनकी राजसभा के बड़े-बड़े विद्वानों को भी विस्मय की तरंगों में डूब जाना पड़ा था।

अभय ने अपनी भूमिका समाप्त करने के पश्चात अपना मंतव्य पिता के समक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि उनका मन संसार से उचट गया है। अतः वह भगवान महावीर से दीक्षा लेकर मुनि-जीवन व्यतीत करेंगे। श्रेणिक अभय के विचारों को सुनकर स्तब्ध हो गए। वह नहीं चाहते थे कि अभय घर-द्वार, राज्य, धन-दौलत आदि छोड़कर मुनिपद पर प्रतिष्ठित हों। वह अभय को समझाने लगे, पर अभय अपने निश्चय पर अटल रहे। आखिर श्रेणिक करते तो क्या करते ? उन्होंने अभय को अनुमति दे दी। अभय ने भगवान महावीर की सेवा में उपस्थित होकर प्रव्रज्या ग्रहण की। इस प्रसन्नता में श्रेणिक ने बड़े-बड़े उत्सव किए थे और दीपक जलाए थे।

अभय ने प्रव्रज्या ग्रहण करके स्वयं बहुत बड़ा तप किया। उन्होंने तप के द्वारा महान ज्ञान प्राप्त किया। कर्मों के बन्धन से छूटकर मोक्ष के अधिकारी बने। उन्होंने भारत में ही नहीं, विदेशों में भी भगवान महावीर के दिव्य-ज्ञान का संदेश पहुंचाया। जैन-धर्म के इतिहास में उनका नाम युग-युगों के लिए वन्दनीय बन गया है।

दूसरे राजकुमार थे मेघकुमार, जिन्होंने भगवान महावीर के दिव्य-ज्ञान को ग्रहण करके अमर-पद प्राप्त किया था। मेघकुमार भी श्रेणिक बिम्बसार के ही पुत्र थे। वह बड़े विलासी थे। आमोद-प्रमोद ही उनके जीवन का व्रत था। उनके आठ

रानियां थीं। वह जरा की चिन्ता से दूर, दिन-रात विषय-वासनाओं में डूबे रहते थे।

एक दिन भगवान महावीर का राजगृह के उद्यान में आगमन हुआ। नगर के कोने-कोने में विद्युत्-तरंग की भांति खबर फैल गई। लोग झुण्ड-के-झुण्ड भगवान की अभिवन्दना के लिए उद्यान में जा पहुंचे। इन अभिवन्दना करनेवालों में मेघकुमार भी थे। भगवान ने अपनी अमृत-पगी वाणी में उपदेश दिया। अपने उपदेश से जन-जन के हृदय में ज्ञान का दीपक जला दिया। मेघकुमार ने भी भगवान महावीर के उपदेश सुने। भगवान के उपदेश-वचनों से मेघकुमार के हृदय की कालिमा दूर हो गई। उनका हृदय चन्द्रमा की भांति निर्मल और धवल हो गया। सत्य की वास्तविकता और संसार की असारता का चित्र उनकी आंखों के सामने साकार हो उठा। वह भगवान के सम्मुख उपस्थित हुए। उन्होंने बड़ी श्रद्धा से भगवान को प्रणाम कर विनीत वाणी में निवेदन किया, "प्रभो, आपके दिव्य उपदेश ने मेरे हृदय-नेत्र खोल दिये हैं। मुझे कृपा करके दीक्षा दीजिए।"

पर भगवान महावीर ने कोई उत्तर न दिया। मेघकुमार ने मन-ही-मन सोचा, जब तक वह माता-पिता से अनुमति न प्राप्त कर लेंगे, भगवान दीक्षित न करेंगे। फलतः मेघकुमार अनुमति प्राप्त करने के लिए माता-पिता की सेवा में उपस्थित हुए। पर माता-पिता उन्हें सहज ही क्यों अनुमति देने लगे? माता-पिता ने मेघकुमार को अनेक प्रकार से समझाया, बंधु-बांधवों की भी सहायता ली, पर मेघकुमार के मन पर किसी

की भी बात का प्रभाव न पड़ा। प्रभाव पड़ता भी तो कैसे ? उनके मन में तो संसार के प्रति अरुचि पैदा हो गई थी। आखिर माता-पिता को अनुमति प्रदान करनी ही पड़ी। पर मेघकुमार की तो पत्नियां भी थीं। मेघकुमार अपनी पत्नियों से अनुमति लेने के लिए उनके पास गए। पर पत्नियां प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए क्यों अनुमति देने लगीं ? अनुमति देने की कौन कहे, वे तो वज्र-शिला बनकर मेघकुमार के पथ में खड़ी हो गईं। मेघकुमार को अपने हाव-भाव और कटाक्षों से विरक्ति के पथ से विचलित करने का प्रयत्न करने लगीं। पर जिसे विरक्ति का स्वाद प्राप्त हो जाता है, उसे साधारण स्त्रियां तो क्या, देवांगनाएं भी पावन मार्ग से विचलित नहीं कर पातीं। मेघकुमार को भी कोई विचलित नहीं कर सका। वह किसी प्रकार भी पत्नियों के वश में न आए। आखिर पत्नियां भी क्या करतीं ? उन्हें भी मेघकुमार की दृढ़ता से पराभूत होकर अनुमति देनी ही पड़ी। मेघकुमार फिर तो अति प्रसन्न होकर भगवान महावीर की सेवा में जा पहुंचे और दीक्षित हो गए।

मेघकुमार विहार में अन्य संतों के साथ भूमि पर सोते थे। सोते भी कहां थे? द्वार के पास। द्वार से होकर संतों का आवागमन लगा ही रहता था। इससे मेघकुमार को सोने में बड़ा कष्ट होता था। जब वह राजकुमार-पद पर प्रतिष्ठित थे, लोग उनका बड़ा आदर-सम्मान करते थे। पर आज वही अपने पैरों की धूलि उड़ाते हुए उनके पास से निकल जाते हैं। आदर-सम्मान प्रकट करने की कौन कहे, कोई उनकी ओर आंख

उठाकर भी नहीं देखता। मेघकुमार के मन में विचारों की आंधी उठ पड़ी। उनके हृदय में फिर वही राग, द्वेष और अमर्ष के भाव जागृत हो उठे। उन्होंने मन-ही-मन सोचा, 'वह अब यहां न रहेंगे। भगवान से आज्ञा लेकर अपने घर लौट जाएंगे।'

मेघकुमार भगवान महावीर की सेवा में उपस्थित हुए। सर्वज्ञ और अन्तर्यामी भगवान ने बिना बताए ही उनके अन्तर् को झांककर देख लिया। भगवान स्वयं ही बोल उठे, "मेघकुमार, तुम इन लोगों के व्यवहार से उदासीन होकर घर जाना चाहते हो, पर तुम घर क्यों जाना चाहते हो, मेघकुमार? क्या इसलिए कि तुम्हारे सोने का स्थान सबसे अन्त में, द्वार के पास है? क्या इसलिए कि वे पूर्व की भांति तुम्हारे प्रति आदर का भाव नहीं प्रकट करते और तुम्हारी ओर से उदासीन रहते हैं?"

मेघकुमार उत्तर देते तो क्या? भगवान महावीर के सम्मुख उनका मस्तक नत हो गया। स्पष्ट था कि भगवान महावीर के एक-एक शब्द से मेघकुमार अपनी सहमति प्रकट कर रहे थे।

भगवान महावीर पुनः बोल उठे, "वत्स, वे तुम्हारे साथी हैं, साधना-पथ में तुम्हारे सहयात्री हैं। साधना-पथ में यह आवश्यक होता है कि कोई किसी से बातचीत न करे। मौन साधना-व्रती का सबसे बड़ा बल है। मौन से हृदय के भीतर एक ऐसी आग उत्पन्न होती है, जिसमें मन की कलुषता जलकर भस्म हो जाती है। वे लोग तुम्हारे प्रति उदासीन इसलिए रहते हैं कि तुम अपने हृदय में समभाव को स्थिर रख सको। तुमने

दीक्षा ग्रहण की है। तुम साधना-पथ पर चल रहे हो। तुम्हें किसी से क्या तात्पर्य कि कोई तुम्हारा आदर-सम्मान कर रहा है या तुम्हारे प्रति उपेक्षा प्रदर्शित कर रहा है। तुम्हें आदर-सम्मान और उपेक्षा—सबको भुलाकर ही साधना-पथ पर अग्रसर होना चाहिए।"

मेघकुमार ने नेत्रों में आश्चर्य भरकर भगवान महावीर की ओर देखा। भगवान महावीर की दिव्य-वाणी ने उनके भीतर अमृत-रस घोल दिया था। वह मन-ही-मन पाश्चाताप करने लगे। भगवान महावीर पुन: बोल उठे, "वत्स, तुम नहीं जानते कि तुम कौन हो ? पर मैं तुम्हें भली-भांति जानता हूं। आज से तीसरे जन्म में तुम एक हाथी थे।"

मेघकुमार विस्मित हो उठे। वह उत्कंठापूर्वक भगवान महावीर की ओर देखने लगे। भगवान महावीर ने पुन: कहा, "हां, वत्स, आज से तीसरे जन्म में तुम एक हाथी थे। एक दिन सहसा आकाश में बादल छा गए। बड़े जोरों का झंझावात उठ पड़ा। धरती-आकाश, सब कुछ धूल से भर गया। चारों ओर अंधेरा छा गया। जीव-जन्तु व्याकुल होकर इधर से उधर भागने लगे। तुम्हें भी अपने प्राणों की चिन्ता हुई। तुम भी उस अंधेरे में भाग खड़े हुए। कहां जा रहे हो, कुछ पता नहीं, क्योंकि सभी दिशाएं तमसाच्छन्न थीं।

"आखिर तुम दलदल में जा फंसे। तुमने उस दल-दल से बाहर निकलने के लिए अथक प्रयत्न किया, पर तुम निकल न सके। बादल छंट गए थे, आंधी शान्त हो गई थी। दिशाएं भी अब स्वच्छ हो चुकी थीं। वन के हिंसक जीव-जन्तुओं

ने तुम्हें दलदल में फंसा हुआ निस्सहाय देखा। बस, फिर क्या था! उन्होंने तुम पर आक्रमण कर दिया। तुम्हारा सारा शरीर नखों और दांतों से क्षत-विक्षत हो गया। तुमने प्राण छोड़ दिए। किन्तु…"

भगवान महावीर कहते-कहते मौन हो गए थे। मेघकुमार ने उत्कंठा-भरे नेत्रों से भगवान की ओर देखा और बोले, "किन्तु क्या, प्रभो? फिर क्या हुआ?"

भगवान महावीर बोल उठे, "वत्स, प्राण छोड़ते समय तुम्हारे मन में यह दुर्भावना उठ रही थी कि क्या ही अच्छा होता, तुम अपने इन शत्रुओं से प्रतिशोध लेते। तुम अपनी इस दुर्भावना के फलस्वरूप पुनः विन्ध्याचल पर्वत पर हाथी के रूप में पैदा हुए। बढ़कर बड़े हुए, तुम्हारा शरीर बहुत भारी-भरकम था। तुम्हारे पदाघात से धरती तक कंपित हो जाती थी। वन के बड़े-बड़े हिंसक जीव-जन्तु भी तुम्हें देखते ही तुम्हारा पथ छोड़ दिया करते थे। पर एक दिन तुम फिर महाविपत्ति के महा-आवर्त में जा फंसे।"

भगवान महावीर मन-ही-मन सोचने लगे। कुछ देर तक मौन रहे, फिर अपने-आप ही बोल उठे, "हां वत्स, एक दिन तुम फिर महा-आपदा के आवर्त में जा फंसे। तुम तो जानते ही हो कि कभी-कभी वनों में अपने-आप ही भीषण दावाग्नि की लपटें उठती हैं और जब उठ पड़ती हैं, तो वनों के साथ-ही-साथ सहस्रों जीव-जन्तुओं को भी जलाकर भस्म कर देती हैं।

"उस दिन सहसा तुम्हारे उस वन में भी दावाग्नि की लपटें उठ पड़ीं। वन के जीव-जन्तु भागने लगे। भाग-भागकर अपने

लिए सुरक्षित स्थान खोजने लगे। तुम भी प्राण-भय से भाग खड़े हुए और एक सुरक्षित स्थान में पहुंचकर खड़े हो गए। वहां और भी बहुत से पशु एकत्र थे। यद्यपि उनमें परस्पर एक-दूसरे के विरोधी और शत्रु थे, पर उस समय वे बैर-विरोध को बिलकुल भूल गए थे, क्योंकि उस समय सबको अपने-अपने प्राण बचाने की पड़ी थी।

"तुम भी उस सुरक्षित स्थान में पहुंचकर एक ओर खड़े हो गए। वन के छोटे-छोटे पशुओं ने तुम्हारे विशाल शरीर की ओर देखा और तुमने उनके उस लघुकाय की ओर देखा, जो हिमालय के समक्ष एक ढूह-सा दिखाई पड़ रहा था। पर कोई किसी से कुछ न बोला, न वे तुम्हें देखकर भयभीत हुए और न तुम्हारे मन में अहंकार ही पैदा हुआ; क्योंकि उस समय सबकी एक ही स्थिति थी। सहसा तुम्हारे एक पैर में खाज पैदा हो उठी और तुम झुककर दूसरे पैर को खुजलाने लगे। जब खुजला चुके, तो फिर उठे हुए पैर को धरती पर रखने लगे। पर यह क्या? वहां तो खरगोश का एक छोटा-सा बच्चा विद्यमान है। यदि तुम पैर रख देते तो निश्चय था कि उस निरीह खरगोश-शिशु का प्राणान्त हो जाता। वह कांप रहा था, भयभीत-दृष्टि से इधर-उधर देख रहा था। उसे देखकर तुम्हारे हृदय में दया पैदा हो उठी। फिर तुम अपने पैर को धरती पर न रख सके, पैर को उठाए तीन पैरों पर ही खड़े रहे। तुम उस समय तक तीन पैरों पर खड़े रहे, जब तक कि दावाग्नि पूर्णरूप में शान्त नहीं हो गई। दावाग्नि शान्त होने पर जब वन के जीव-जन्तुओं के साथ खरगोश का वह बच्चा भी चला गया,

तब तुमने अपने पैर को धरती पर रखा। देर तक तीन पैरों से खड़े रहने के कारण तुम्हारे अंग जकड़ उठे थे। सारे शरीर में पीड़ा उठ रही थी। तुम गिर पड़े और कभी न टूटने वाली नींद में सो गए।

'पर तुम पशु-योनि से मुक्त हो गए। पशु-योनि में खरगोश शिशु के प्रति कष्ट उठाकर दया प्रकट करने के ही कारण तुम्हें यह मानव-जन्म प्राप्त हुआ है। मानव-शरीर में भी तुम्हें राजकुमार का पद प्राप्त हुआ और तुम्हारे हृदय में उज्ज्वल भावनाओं का उदय हुआ। फिर अब तुम क्यों पीछे की ओर लौट रहे हो ? पशु-योनि में तो तुमने समभाव प्रदर्शित किया, खरगोश-शिशु के प्रति दया प्रदर्शित करके महान सुख के भागी बने, फिर इस मानव-जन्म में तुम क्यों समभाव को छोड़ रहे हो ? तुम्हारा नाम मेघ है। जिस प्रकार मेघ सब पर समानरूप से कृपा करते हैं, उसी प्रकार तुम्हें भी सबको समान समझना चाहिए। इस जगत् में न कोई छोटा है, न बड़ा है। छोटा, बड़ा, नीच, ऊंच—सब अपने-अपने कर्मों से ही बनते हैं।"

भगवान महावीर की उक्त वाणी से मेघकुमार के हृदय की मलिनता दूर हो गई। उनके हृदय में दिव्य-ज्ञान की ज्योति झिलमिला उठी। वह दृढ़ निश्चय के साथ भगवान के चरणों पर झुक पड़े। भगवान ने उन्हें आशीर्वाद दिया, अपने अमृत-तुल्य हाथों से उठाया। भगवान महावीर के कर-स्पर्श से मेघ-कुमार गौरवान्वित हो उठे। इतने गौरवान्वित कि आज भी लोग उनकी गाथा का स्मरण 'पावन' के रूप में ही करते हैं।

श्रेणिक बिम्बसार के तीसरे पुत्र वारिषेण की कथा भी बड़ी रोमांचकारी है। वारिषेण थे तो राजकुमार, पर उनके हृदय में महान् गुण थे। वह गार्हस्थ्य जीवन में रहते हुए भी तपस्वियों और श्रावकों के-से आचार-विचार रखते थे। उनका ध्यान निरन्तर धर्म, ईश्वर और आत्मा की ओर ही लगा रहता था। वह लौकिक कार्यों से दूर, केवल चिन्तन में ही अपना समय व्यतीत किया करते थे।

चतुर्दशी का दिन था। वारिषेण उपवास में थे। पवित्रता के साथ अपने समय को बिताने के उद्देश्य से वह श्मशान में जा पहुंचे, और एक स्थान पर बैठकर परमात्मा के ध्यान में लीन हो गए।

उसी दिन रात में नगर में एक ऐसी घटना घटी, जिसके कारण वारिषेण के जीवन की धारा ही बदल गयी और वह घर-द्वार छोड़कर मुनि-पद पर प्रतिष्ठित हुए। बात यह हुई कि नगर में एक चोर रहता था। चोर का नाम विद्युत था। विद्युत की एक प्रेमिका थी—वारवधू। विद्युत उसे हृदय से प्रेम करता था। वह जो कुछ कहती, विद्युत प्राण देकर भी उसे पूर्ण करने का प्रयत्न किया करता था।

संयोग की बात, उस दिन रात में जब विद्युत 'बारवधू' के घर गया, तो वह हाव-भाव प्रकट करती हुई बोल उठी—"विद्युत, तुम यदि मुझसे प्रेम करते हो तो आज ही महारानी का स्वर्णहार चुराकर मेरे लिए ला दो।"

महारानी का स्वर्णहार ! विद्युत के तन से पसीना छूटने

लगा। भला वह महारानी का स्वर्णहार कैसे चुराकर ला सकता है? राजभवन में तो दिन-रात सन्तरियों और सिपाहियों का पहरा रहता है। वह सन्तरियों और सिपाहियों की आंख बचाकर राजभवन में कैसे प्रवेश कर सकेगा? यदि कहीं वह पकड़ा गया तो अवश्य उसे शूली पर चढ़ा दिया जायगा।

विद्युत के प्राण कांप उठे। उसने वारवधू को बहुत समझाया कि वह उसके लिए अच्छे-से-अच्छे स्वर्णहार ला देगा, पर वह महारानी के स्वर्णहार की ज़िद छोड़ दे। पर वारवधू क्यों मानने लगी? उसने स्पष्ट कह दिया कि यदि वह महारानी का स्वर्णहार न लाकर देगा, तो फिर वह उससे अपना सम्बन्ध तोड़ लेगी।

विद्युत हर मूल्य पर वारवधू को प्रसन्न रखना चाहता था। आखिर वह प्राण हथेली पर रखकर राजभवन की ओर चल पड़ा। रात का समय था। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। विद्युत बड़े साहस और कौशल के साथ राजभवन में प्रविष्ट हुआ। वह धीरे-धीरे महारानी के कमरे में घुसा और स्वर्णहार लेकर राजभवन से बाहर निकल गया। किन्तु जब वह हार लेकर वारवधू के पास जाने लगा तो शहर कोतवाल ने उसे देख लिया। शहर कोतवाल ने विद्युत को ललकारकर कहा—"खड़ा रह, तेरे हाथ में क्या है?"

विद्युत ने सोचा कि कोतवाल ने महारानी का स्वर्णहार देख लिया है। वह भाग खड़ा हुआ। पर कोतवाल ने भी अपने सिपाहियों के साथ उसका पीछा किया। विद्युत भागता-भागता श्मशान में पहुंचा और ध्यान में मग्न वारिषेण के पास

स्वर्णहार फेंक कर चलता बना। शहर कोतवाल भी कुछ क्षणों के पश्चात वारिषेण के पास जा पहुंचा। वारिषेण ध्यान में मग्न थे, पर स्वर्णहार उनके पास ही पड़ा था। कोतवाल नें स्वर्णहार उठा लिया। साथ ही उसने वारिषेण को भी बन्दी बना लिया। उसनें सोचा, अवश्य उन्होंनें ही स्वर्णहार की चोरी की है और अब अपनी चोरी को छिपानें के लिए तपस्या का ढोंग रचे हुए हैं।

कोतवाल नें स्वर्णहार के साथ वारिषेण को न्यायालय में उपस्थित किया। श्रेणिक बिम्बसार स्वयं न्याय के आसन पर विराजमान थे। महारानी के स्वर्णहार के चोर के रूप में अपनें ही पुत्र को देखकर श्रेणिक बिम्बसार विचारमग्न हो उठे। वह सोचनें लगे, क्या यह सम्भव हो सकता है कि वारिषेण जैसा निर्लिप्त राजकुमार अपनी माता के स्वर्णहार की चोरी करे ? पर जितनी गवाहियां थीं, वे सब वारिषेण के विरुद्ध थीं। सभी गवाहियों से यही सिद्ध होता था कि वारिषेण नें ही स्वर्णहार चुराया है। फलतः श्रेणिक बिम्बसार को विवश होकर वारिषेण को चोरी के अपराध में मृत्युदण्ड देना पड़ा।

मृत्युदण्ड के लिए वारिषेण को चाण्डालों के सिपुर्द कर दिया गया। चाण्डाल वारिषेण को लेकर श्मशान में पहुंचे। उन्होंनें वारिषेण को वध-भूमि पर खड़ा करके उन पर शस्त्र-प्रहार करना चाहा। पर यह क्या ? चाण्डालों के शस्त्र ही नहीं उठ रहे थे। चाण्डालों नें बड़ा प्रयत्न किया, पर उनके शस्त्र वारिषेण पर न उठे। सहसा वारिषेण पर आकाश से पुष्पों की बरसा होनें लगी। चारों ओर यह खबर बिजली की तरह फैल

गई। लोग झुण्ड-के-झुण्ड वारिषेण के दर्शनार्थ उमड़ पड़े। श्रेणिक बिम्बसार भी वारिषेण के पास उपस्थित हुए। वारिषेण के तेजोदीप्त मुखमण्डल को देखकर वे विमुग्ध हो गए।

श्रेणिक बिम्बसार वारिषेण से बोल उठे—"बेटा, मैं पहले ही जानता था कि तुम निरपराध हो। पर मैं क्या करता? मैं न्याय के आसन पर था, अपने कर्तव्य से विवश था। भूल जाओ सारी बातें। चलो, अब घर लौट चलो।"

पर वारिषेण लौटकर घर न गए। उन्होंने उत्तर दिया—"घर! कौन-सा घर! मेरा कोई घर नहीं। न मैं किसी का पुत्र हूं और न कोई मेरा पिता है। ये लौकिक सम्बन्ध, यह जगत सब कुछ प्रपंच है, सब कुछ नश्वर है। मैं अब सब कुछ छोड़कर भगवान महावीर की शरण में जाऊंगा और मुनि-जीवन व्यतीत करूंगा।"

श्रेणिक बिम्बसार ने वारिषेण के विचारों को सुनकर अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट की। वारिषेण अपने माता-पिता को प्रणाम करके भगवान महावीर की शरण में गए और उनसे दीक्षा लेकर मुनि-जीवन व्यतीत करने लगे।

भगवान महावीर के संघ में लाखों स्त्रियां भी थीं। स्त्रियों के लिए पृथक् संघ था, और उस संघ का नाम 'आर्जिका-संघ' था। 'आर्जिका संघ' की कई स्त्रियों ने तप और साधना के क्षेत्र में अधिक सुख्याति प्राप्त की थी। इस प्रकार की स्त्रियों में राजकुमारी चन्दना, देवानन्दा और भद्रा का नाम अत्यधिक उल्लेखनीय है।

भद्रा की कथा बड़ी प्राण-प्रेरक है। भद्रा बहुत विदुषी और सुशिक्षिता थी। उसने श्रावस्ती में बौद्ध आचार्य सारिपुत्र से शास्त्रार्थ करके सबको विस्मय में डाल दिया था। पर भद्रा के आरम्भिक जीवन की कहानी आसक्ति के बन्धनों से जकड़ी हुई है। भद्रा राजगृह के एक प्रमुख राज-कर्मचारी की पुत्री थी। उसका जीवन बड़े सुख और शान्ति के साथ बीत रहा था। पर उसके जीवन में एक ऐसी घटना घटी, जिसने उसके जीवन-रंग-मंच का पर्दा ही बदल दिया।

बात यह हुई कि एक दिन हठात् ही भद्रा की दृष्टि एक डाकू पर पड़ी। डाकू का नाम केसा था। केसा देखने में बड़ा सुन्दर और हृष्ट-पुष्ट था। भद्रा केसा को देखकर उस पर विमुग्ध हो गई। उसने निश्चय किया कि वह केसा को छोड़कर और किसी के साथ विवाह नहीं करेगी। भद्रा के माता-पिता ने उसे बहुत समझाया कि वह केसा से विवाह करने का अपना आग्रह छोड़ दे। पर भद्रा के हृदय पर किसी के समझाने-बुझाने का कुछ प्रभाव न पड़ा। वह अपने निश्चय पर दृढ़ रही। आखिर माता-पिता ने विवश होकर भद्रा का विवाह केसा के साथ कर दिया।

भद्रा केसा के घर रहने लगी। पर कुछ ही दिनों में भद्रा और केसा में अनबन हो गई। केसा के कुत्सित आचरणों ने भद्रा के मन में विरक्ति पैदा कर दी। वह मन-ही-मन पश्चाताप करने लगी कि उसने केसा के साथ विवाह करके बहुत बड़ी भूल की। पर अब तो विवाह हो ही चुका था। भद्रा दुख और पीड़ा की आग में जलने लगी। पर दुख और पीड़ा सहने की

भी कोई सीमा होती है। भद्रा जब पीड़ा और दुख सहते-सहते ऊब उठी, तो घर से निकल गई। उसके लिए उस समय सारा संसार सूना और अंधकारमय हो रहा था। सारा जगत ही उसे एक दानव की भांति दृष्टिगोचर हो रहा था। उसके मन में संसार और संसार के लोगों के प्रति अरुचि हो उठी। वह अपने लिए किसी ऐसे स्थान की खोज करने लगी, जहां उसके व्याकुल मन को शान्ति प्राप्त हो सके।

आखिर भद्रा 'आर्जिका संघ' में सम्मिलित हो गई। उसने अपने शरीर के अच्छे वस्त्र और आभूषण उतारकर फेंक दिए। वह खद्दर की मोटी धोती पहनकर पूरी तपस्विनी बन गई। उसने अपने सिर के लम्बे-लम्बे केश भी नोचकर फेंक दिए। केवल शरीर से ही नहीं, मन से भी वह तपस्विनी का जीवन व्यतीत करने लगी, साधना और संयम के मार्ग पर चलने लगी। शनैः शनैः उसके हृदय में ज्ञान का प्रकाश प्रकट होने लगा। भगवान महावीर के उपदेशों को सुनने का जब उसे सौभाग्य प्राप्त हुआ, तब तो उसके हृदय की समस्त गांठें खुल गईं। भगवान के उपदेशों का अमृत पीकर वह लोक-वासिनी होते हुए भी दिव्या बन गई। महान् और वन्दनीय दिव्या!!

इस प्रकार अनेक गृहस्थों, नृपतियों, साधुओं, राज-कुमारों, राजकुमारियों, अमीरों, साहूकारों और विद्वानों ने भगवान महावीर से दीक्षा लेकर अपने जीवन को सार्थक बनाया था। काशी, कलिंग, बंग, पाण्डु, ताम्रलिपि, मैसूर, श्रावस्ती, विदेह, अंगदेश, कौशाम्बी आदि देशों में भगवान महावीर के

उपदेश-सुधा ने झोंपड़ियों से लेकर राजभवनों को भी आप्लावित कर दिया था। फारस और ईरान आदि देशों को भी उनकी उपदेश-सुधा ने अभिषिक्त कर दिया था। भारत के कोने-कोने में तो उनकी विजय का नाद गूंजने लगा था। जन-जन के हृदय से उनके प्रति श्रद्धा की गंगा फूट पड़ी थी। कोटि-कोटि लोग उन्हें भगवान मानकर, अपनी श्रद्धा के सुमन उनके चरणों में चढ़ाने लगे थे। धन्य थे वे आराधक और धन्य थे उनके आराध्य ! !

निर्वाण की सीढ़ियां

मानव-जीवन का परम लक्ष्य है निर्वाण प्राप्त करना—आत्मा को परमात्मा बना देना। पर प्रश्न यह है कि मनुष्य क्या करे कि उसे निर्वाण प्राप्त हो, उसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो। क्या वह यज्ञ करे? क्या वह तीर्थों में परिभ्रमण करे? क्या वह मन्दिरों में जाकर देवताओं के दर्शन करे? अवश्य, वह इन कार्यों को करे, पर उसे अपने मन और अपनी आत्मा को परिष्कृत बनाने का विशेष रूप से प्रयत्न करना चाहिए। यदि मन और आत्मा परिष्कृत है, तो उक्त बाह्य साधनों से कुछ सहायता प्राप्त हो सकती है। इसके विपरीत यदि मन और आत्मा में मलिनता है तो उक्त बाह्य साधन आडम्बर-मात्र रह जाते हैं। इस सम्बन्ध में भगवान महावीर का मत दृष्टव्य है—सुख-दुख की कर्ता आत्मा है। वही मित्र है, और वही शत्रु है। आत्मा पर अनुशासन कर! आत्मा पर विजय प्राप्त करने वाला ही विश्वजित् होता है और वह सभी प्रकार के दुःख-

बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

भगवान महावीर ने अथक तप और साधना के मार्ग पर चलकर, बड़े-बड़े कष्ट झेलकर मनुष्य को निर्वाण की मंजिल तक पहुंचाने के लिए सुदृढ़ सीढ़ियों का निर्माण किया है। यद्यपि उन सभी सीढ़ियों के नाम पृथक-पृथक हैं, पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से उन पर विचार किया जाए, तो वे सब एक-सी ही लगती हैं और एक ही दिशा की ओर इंगित करती हैं—'कामनाओं को जीतो, आत्मा को धवल बनाओ।' भगवान महावीर ने मनुष्य को ऊंचा उठाने के लिए जो कुछ कहा, जो कुछ किया, उसमें मन और आत्मा को ही वश में करने की प्रेरणा थी। लोग बाह्य जगत् में बड़ी-बड़ी क्रान्तियां करके विश्व में ख्याति प्राप्त करते हैं, पर मनुष्य के अन्तर्जगत् में क्रान्ति का शंख फूंकने वाले तो भगवान महावीर ही थे। भगवान महावीर स्वयं कामनाओं से लड़े, विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त की, हिंसा को पराजित किया, असत्य को पराभूत किया और जात्याभिमान, कर्माभिमान, आडम्बर, विषमता और लोभ-मोह आदि को पीछे ढकेलकर निर्वाण के भागी ही नहीं बने, वरन् भगवत्ता के महान् पद पर प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया, बड़ी उदारता से मनुष्य के कल्याण के लिए मानव-समाज के अंचल में डाल दिया। मानव-समाज उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान-मणियों के प्रकाश में ही तो आज सुख-शान्ति की राह खोज रहा है।

यह सम्भव नहीं कि भगवान महावीर ने निर्वाण के महालक्ष्य पर पहुंचने के लिए जो सीढ़ियां बनाई हैं, उन पर वास्तविक रूप से प्रकाश डाला जाए; क्योंकि वे दिव्य-से-दिव्य हैं, गहन-

से-गहन हैं। भौतिक कामनाओं में फंसे हुए मनुष्यों में सामर्थ्य कहां कि वे उन्हें स्पर्श कर सकें। फिर भी यहां भगवान महा-वीर के उपदेशों के सहारे उनमें से कुछ पर साधारण-रूप में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

अहिंसा

भगवान महावीर ने अहिंसा पर सबसे अधिक बल दिया है। उनका सम्पूर्ण जीवन हिंसा के विरुद्ध संघर्ष करने और अहिंसा के प्रचार में ही व्यतीत हुआ है। यों तो विश्व में बड़े-बड़े अहिंसावादी हुए हैं, पर भगवान महावीर के समान अहिंसावादी संसार में कोई नहीं हुआ। भगवान महावीर अहिंसा को धर्म का अंग नहीं, वरन् अहिंसा को ही धर्म और सत्य मानते थे। उनका कहना था कि जो मनुष्य अहिंसा को छोड़कर धर्म और ईश्वर की राह पर चलता है, उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता।

भगवान महावीर का सम्पूर्ण जीवन-दर्शन ही अहिंसा पर अवलम्बित है। उनके पूर्व जो तीर्थंकर हुए हैं, उन्होंने भी अहिंसा को धर्म के प्रधान अंग के रूप में ग्रहण किया है। सारा जैन-धर्म-साहित्य अहिंसा की विशिष्टताओं से ओत-प्रोत है। व्याकरण-सूत्र में अहिंसा की विशिष्टताओं का चित्रण इस प्रकार किया गया है :

१. जिस प्रकार भय से समाकुल प्राणियों के लिए शरण आधार होता है, उसी प्रकार विश्व के दुःखों से भयभीत प्राणियों के लिए अहिंसा आधारभूत है।

२. जिस प्रकार पक्षियों के गमन के लिए आकाश आधार है, उसी प्रकार भव्य जीवों के लिए अहिंसा का आधार होता है।

३. जिस प्रकार प्यासे मनुष्यों के लिए जल का आधार होता है, उसी प्रकार सुखों की प्यास से पीड़ित मनुष्यों के लिए अहिंसा का आधार है।

४. जिस प्रकार भूखे मनुष्यों के लिए भोजन का आधार होता है, उसी प्रकार अध्यात्म विद्या की भूख से व्याकुल मनुष्य के लिए अहिंसा का आधार है।

५. जिस प्रकार समुद्र में डूबते हुए प्राणी के लिए जहाज़ या नौका का आधार होता है, उसी प्रकार संसार रूपी समुद्र में गोते खाते हुए भव्य प्राणियों के लिए अहिंसा का आधार है।

६. जिस प्रकार पशु को खूंटे का और रोगी को औषधि का आधार होता है, उसी प्रकार भव्य प्राणियों को अहिंसा का आधार है।

७. जिस प्रकार वन में भूले हुए किसी पथिक को साथी का आधार होता है, उसी प्रकार संसार में कर्मों के वशीभूत होकर अनेक प्रकार की गतियों में भ्रमण करते हुए प्राणियों के लिए अहिंसा का आधार होता है।

भगवान महावीर की अहिंसा की मंगलमयता का उद्घोष इस प्रकार है :

धम्मो मंगल मुक्किंट, अहिंसा संजमोतवो।
देवावित नमंसन्नि, जस्सधम्मे, सयो मरहटो।

अर्थात् अहिंसा, संयम और तप—ये विविध धर्म हैं और उत्कृष्ट मंगल हैं। जिस हृदय में धर्म निवास करता है, देवता भी उसका प्रणमन करता है। पातंजलि ऋषि ने साधना-पाद, सूत्र पैंतीस में अहिंसा के महत्त्व को इन शब्दों में स्वीकार किया

हैं—'अहिंसा प्रतिष्ठयां तत्सन्निधो वैर-त्याग' अर्थात् जब योगी अहिंसा धर्म को अपने जीवन में धारण कर लेता है, और पूर्ण रूप से उसमें उसकी दृढ़ता हो जाती है, तो उसके समीप निवास करने वाले प्राणियों का भी वैर-भाव दूर हो जाता है।

संसार के अन्यान्य धर्मग्रन्थों में भी अहिंसा को परम-धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है। महाभारत में अहिंसा की महिमामयी गरिमा को इन शब्दों में स्वीकार किया गया है—'जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करता है, और कभी भी मांस नहीं खाता है, वह मनुष्य न तो स्वयं किसी भी प्राणी से डरता है और न दूसरों को डराता है। वह दीर्घायु होता है, आरोग्यपूर्वक रहता है और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है।' मनुस्मृति में भी अहिंसा की सर्वोच्चता की घोषणा इन शब्दों में की गई है—'जो मनुष्य होकर भी निरपराध प्राणियों को अपने सुख के लिए दुःख देता है, उनकी हिंसा करता है, वह न तो इस जन्म में सुखी रहता है, न मरने के पश्चात स्वर्ग-सुख ही प्राप्त कर सकता है।' बौद्ध-धर्म में भी मनुष्य को अहिंसा के ही पथ पर चलने की सलाह दी गई है। सुत्त निपात के इन शब्दों में स्पष्टतः अहिंसा के ही महत्त्व का चित्र अंकित किया गया है—जैसा मैं हूं, वैसा वह है। जैसा वह है, वैसा मैं हूं। अपने समान दूसरों को जानकर न तो किसी की हिंसा करनी चाहिए और न करानी चाहिए। महात्मा ईसा ने अपने मतानुयायियों को स्पष्टतः निर्देशित किया है—'किसी को मत मार ! तू मेरे पास पवित्र मनुष्य होकर रह। जंगलों के प्राणियों का वध करके उनका मांस मत खा।"

विश्व के सभी धर्मों ने अहिंसा को परम-धर्म के रूप में स्वीकार किया है। 'अहिंसा परमो धर्मः' सर्वविदित ही है। पर हिंसा किसे कहते हैं, इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर जाने बिना कोई अहिंसा के मार्ग पर यथोचित रूप में किस प्रकार चल सकता है? महाभारत में अहिंसा के अर्थ को इस प्रकार समझाया गया है—'मन, वचन और कर्म के द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों के साथ अद्रोह अर्थात मित्रता करना और प्राणी मात्र के ऊपर अनुग्रह करके उन्हें दुख न पहुंचाना अहिंसा परम-धर्म है।' जैन धर्मग्रन्थों में अनुकम्पा, दया, करुणा, सहानुभूति और समवेदना आदि को अहिंसा के ही अन्तर्गत माना गया है। जैनाचार्यों ने अहिंसा के अर्थ की व्याख्या करते हुए लिखा है—'मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्राणी को, शारीरिक और मानसिक किसी भी प्रकार का कष्ट या क्लेश न पहुंचाने का नाम अहिंसा है। अहिंसा के दो रूप हैं—निवृत्ति और प्रवृत्ति रूप। किसी जीव की हिंसा न करना निवृत्ति रूप है और मरते हुए जीव की रक्षा करना प्रवृत्ति रूप है। अहिंसा के उल्टे अर्थ को ही हिंसा का अर्थ समझना चाहिए।

भगवान महावीर इसी अहिंसा के मार्ग पर आजीवन चले। उन्होंने इसी पुण्यमय अहिंसा का जगत् के समस्त प्राणियों को उपदेश दिया। उन्होंने स्वयं तप किया, उन्होंने स्वयं तीर्थों की यात्राएं कीं। स्वयं उपदेश दिया और स्वयं अर्हंत और सिद्धों की उपासना के लिए प्रेरणा दी। पर उन्होंने उस तप, उस तीर्थ-यात्रा, उस उपदेश और उस पूजा-आराधना की निन्दा की, जिसमें अहिंसा का स्थान न हो। वह प्रत्येक तापस के लिए, प्रत्येक

ध्यानव्रती के लिए और प्रत्येक साधक के लिए अहिंसा मूल-मन्त्र मानते थे। उनका अनुयायी वही हो सकता था, जो अहिंसक हो। उनके संघ में वही सम्मिलित हो सकता था, जो हिंसा से दूर हो। हज़ारों महाव्रती और लाखों अणुव्रती उनके अनुयायी थे, पर वे सब-के-सब अहिंसा पर चलनेवाले थे, उसके महामन्त्र का जाप करनेवाले थे।

भगवान महावीर की एक ही कसौटी थी—अहिंसा। वह अहिंसा की कसौटी पर ही धर्म को कसते थे, मनुष्य को कसते थे, उसके मन को कसते थे और कसते थे उसकी आत्मा को। उनकी दृष्टि में उस व्यक्ति का जीवन निस्सार है, जिसमें अहिंसा-भाव न हो। वह अहिंसा को एक दिव्य प्रकाश के रूप में मानते थे। उनका कथन था कि अहिंसा ही वह प्रकाश है, जिसके सहारे मनुष्य आत्मानुसंधान कर सकता है, परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। उन्होंने अपने इस कथन में कि 'जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है' अहिंसा के इसी दिव्य-प्रकाश की ओर संकेत किया है।

भगवान महावीर अहिंसा को किस रूप में मानते थे, उसे कितना महत्त्व देते थे, उनके निम्नांकित कथनों में उसकी एक झलक देखी जा सकती है :

१. सब प्रकार के जीवों को आत्मतुल्य समझो। सब जीव अवध्य हैं। आवश्यक हिंसा भी हिंसा है, जीवन की कमज़ोरी है। वह अहिंसा नहीं हो सकती।

२. धर्म का पहला लक्षण है अहिंसा और दूसरा है तितिक्षा। जो कष्ट में अपने धैर्य को स्थिर नहीं रख सकता,

वह अहिंसा की साधना नहीं कर सकता। अहिंसक अपने से शत्रुता रखने वालों को प्रिय मित्र मानता है, वह अप्रिय वचन को समभाव से सहता है। जो प्रिय और अप्रिय में सम रहता है, वह समदृष्टि है, वह अहिंसक है।

३. छोटे-बड़े किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, बिना दी हुई वस्तु न लेना, विश्वासघाती असत्य न बोलना—यह आत्मा-निग्रह ही सत्पुरुषों का धर्म है।

४. जो मनुष्य प्राणियों की स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा कराता है और हिंसा करनेवालों का अनुमोदन करता है, वह संसार में अपने लिए वैर को बढ़ाता है।

५. संसार में रहनेवाले चल और स्थावर जीवों पर मन, वचन और शरीर से किसी भी प्रकार का दण्ड प्रयोग नहीं करना चाहिए।

६. सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसलिए निर्ग्रन्थ (जैन-मुनि) घोर प्राणी-वध का सर्व-परित्याग करते हैं।

७. ज्ञानी होने का सार यही है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। इतना ही अहिंसा के सिद्धान्त का ज्ञान यथेष्ट है। यही अहिंसा का विज्ञान है।

८. प्रत्येक प्राणी एक-सी पीड़ा का अनुभव करता है। प्रत्येक प्राणी का एक ही लक्ष्य है—मुक्ति।

सत्य

भगवार महावीर ने अहिंसा के साथ-ही-साथ सत्य पर भी

अधिक बल दिया है। पंच-महाव्रतों में अहिंसा के पश्चात् सत्य का ही स्थान है। भगवान महावीर अहिंसा और सत्य में अन्तर नहीं मानते। उनके विचारानुसार जहां अहिंसा है, वहीं सत्य है और जहां सत्य है, वहीं अहिंसा है।

पर सत्य क्या है?—यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है। संसार में आदिकाल से सत्य है, और सदा रहेगा। विश्व के सभी बड़े-बड़े मनीषियों ने सत्य की परिभाषा के सम्बन्ध में अपने-अपने महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए हैं। यद्यपि प्रत्येक की शब्दावली पृथक-पृथक है, पर सबका अर्थ एक ही है। सत्य के सम्बन्ध में सभी विचारक-मनीषी एक ही बात कहते हैं—"सत्य एक है, अविभाज्य है। जो सत् है, जिसका अस्तित्व है, वह सत्य है।" भगवान महावीर ने सत्य को स्पष्ट करते हुए कहा—'सत्य वही है जो वीतराग के द्वारा प्ररूपित है।'

'सत्य' का अधिक महत्व है। विश्व के सम्पूर्ण धर्मग्रन्थों में सत्य की प्रशंसा की गई है। गीता में सत्य की गरिमा का चित्रण इन शब्दों में किया गया है—'आत्मा सत्य और तप आदि से प्राप्त किया जाता है···सत्य से ही जय प्राप्त होती है। मिथ्या-वादी कभी जय को प्राप्त नहीं होता। वह तो सदैव पराजय में ही रहता है। सत्यवादी पुरुष के परमधाम पहुंचने के लिए देवयान-मार्ग खुल जाता है।' उपनिषद में सत्य की महत्ता का चित्रण इन शब्दों में किया गया है—'सत्य का मुख ढंका है सोने के ढक्कन से। हे पूषन्, यदि तू सत्य का दर्शन करना चाहता है तो उसे खोल।' वाल्मीकि-रामायण में सत्य का चित्रण इस प्रकार किया गया है—'धर्म को जाननेवाले लोग सत्य को ही

परम-धर्म मानते हैं।' तो यह सत्य है क्या? इसके सम्बन्ध में वर्णित यह कथन मननीय है—'जो कुछ भूतों के लिए कल्याणकारी है, वही सत्य है। पक्षपात का अभाव, इन्द्रिय-जय, अमात्सर्य, सहिष्णुता, लज्जा, दुखी को अप्रतिकारपूर्वक सहन करने की क्षमता, गुणों में दोषों का दर्शन करना, दान, ध्यान, करने योग्य कार्य को करने की एवं न करने योग्य कार्यो को न करने की आन्तरिक वृत्ति, स्वयं और पर का उद्धार करने वाली दया और अहिंसा—ये तेरह सत्य के ही आकार हैं।"

विश्व के सभी बड़े-बड़े दार्शनिक और महात्मा सत्य को ही ग्रहण करके बढ़े हैं। श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट शब्दों में कहा है—"जो सत्य को अपनाता है, वही मुझे पाता है।" महात्मा ईसा ने अपने शिष्यों को उपदेशित करते हुए कहा है—"सत्य को ग्रहण करो। सत्य ही ईश्वर है।" महात्मा बुद्ध ने भी सत्य की महत्ता पर बल दिया है। आधुनिक युग के महामानव महात्मा गांधी भी सत्य को ईश्वर का प्रतिरूप मानते हैं। इतना ही नहीं, वह इसके आगे भी कहते हैं—"सत्य ही ईश्वर है और ईश्वर ही सत्य है।"

भगवान महावीर ने आजीवन सत्य का ही प्रचार किया। उन्होंने सत्य को प्रकट करने के लिए साढ़े बारह वर्षों तक तप किया और बड़े-बड़े कष्ट झेले। उन्होंने महान पुरुषार्थ के द्वारा सत्य को प्रकट करने के लिए ही असीम शक्ति प्राप्त की। उन्होंने महान शक्ति प्राप्त करके बड़े साहस के साथ, बड़ी निर्भीकता के साथ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सत्य को उद्‌भासित किया। सत्य को प्रकट करने में भगवान महावीर ने जिस शौर्य

और पराक्रम को उपस्थित किया, वह संसार के अन्य मनीषियों और विचारकों में नहीं मिलता। भगवान महावीर ने सत्य के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं, वे मननीय ही नहीं, भजनीय भी हैं :

१. हे पुरुष, तू सत्य को ही सच्चा तत्त्व समझ। जो बुद्धिमान सत्य के ही आदेश में रहता है, वह मृत्यु को तर कर पार कर सकता है।

२. आत्मा ही सत्य है, शेष सत्य मिथ्या है।

३. काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, तथापि ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इससे इन व्यक्तियों को दुःख पहुंचता है।

४. जो भाषा कठोर हो, दूसरों को भारी दुख पहुंचाने वाली हो, वह सत्य ही क्यों न हो, नहीं बोलनी चाहिए।

५. धर्म की उत्पत्ति सत्य से होती है और दया-दान से बढ़ती है।

६. सत्य का निवास-स्थान हृदय में होता है और सदा सत्य की विजय होती है।

७. सत्य यह है कि आत्मबली के समक्ष अग्नि ठंडी हो जाती है, शस्त्र व्यर्थ हो जाता है और विष अमृत बन जाता है।

अस्तेय

पंच-महाव्रतों में अस्तेय का तृतीय स्थान है। आत्मा के विकास और लौकिक सुख-शान्ति के लिए अस्तेय का अधिक

महत्त्व है। पर अस्तेय क्या है?—यह एक प्रश्न है। 'नारद-स्मृति' में इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया गया है—'सुप्त, पागल और असतर्क मनुष्य से विविध प्रयोगों द्वारा छल करके किसी भी चीज़ को ले लेना चोरी है। श्रीमद्भागवत में इसी बात को इन शब्दों में प्रकट किया गया है—'मनुष्यों का अधिकार या हक उतने ही धन पर है जितने से उनका पेट भर जाए। इससे अधिक को जो अपना मानते हैं वे चोर हैं और उन्हें दण्ड मिलना चाहिए।'

साधारण रूप में किसी भी वस्तु, जड़-चेतन, प्राणी-पदार्थ के स्वत्व-अधिकार का हरण कर लेना स्तेय है। स्तेय का अर्थ है चोरी, और चोरी न करने का नाम अस्तेय है। चोरी कई प्रकार की होती है, जैसे प्रजा के अधिकारों का हरण करना, प्रजा पर अनुचित कर लगाकर स्वार्थ-साधन करना, न्यायाधीशों का उत्कोच लेकर अन्याय करना, कर्तव्य-पालन में प्रमाद करना, अवैध कार्य करने वालों की सहायता करना, मजदूरों को उचित मजदूरी न देना, अच्छी वस्तु के दाम लेकर घटिया वस्तु देना, किसी एक चीज़ में दूसरी चीज़ मिलाकर देना, चोरी का माल खरीदना, बात कहकर पलट जाना, झूठे समाचार गढ़कर दूसरों को धोखा देना और अधिक ब्याज लेकर गरीबों की सम्पत्ति का अपहरण करना। ये सभी काम चोरी के अन्तर्गत आते हैं। जो लोग इस प्रकार के कार्य करते हैं या इस प्रकार के कार्यों को करने में प्रोत्साहन देते हैं, उनकी आत्मा का विकास तो होता ही नहीं, वे समाज और देश की सुख-शान्ति के मार्ग में कांटे बिछाते हैं।

आत्मा के विकास और लौकिक सुख-शान्ति के लिए अस्तेय धर्म को अधिक पूर्ण बताया गया है। महर्षि पातंजलि ने अस्तेय की महत्ता के सम्बन्ध में स्पष्ट घोषणा की है—"जो मनुष्य अस्तेय धर्म को सिद्ध कर लेता है, उसके पास सभी प्रकार के रत्न उपस्थित हो जाते हैं।" ईर्ष्यावस्था में अस्तेय धर्म की महत्ता का निरूपण इन शब्दों में किया गया है—"किसी के द्रव्य की लालसा मत रखो। यदि इस वृत्ति को हम अपने जीवन में उतार लें, तो हम अपने दैनन्दिन व्यवहारों में भी श्रेष्ठ बन जाएंगे।"

भगवान महावीर लोक और परलोक दोनों में दिव्यता उत्पन्न करना चाहते थे। वह लोक को इतना सबल और इतना महान पुरुषार्थी बना देना चाहते थे कि वह अपने आप ही दिव्य लोक को छू ले। यही कारण है कि वह लोक के मानस की कालिमा को हटाकर उसे चन्द्रमा की भांति धवल और गंगा की भांति पवित्र बना देना चाहते थे। लोक-मानस को पवित्र बनाने के लिए ही उन्होंने अस्तेय की महत्ता को स्वीकार किया, क्योंकि जब हम अस्तेय की बात करते हैं तो स्पष्ट रूप से उस स्तेय नामक महारोग से संघर्ष करने की बात करते हैं, जो मोह-लोभ-लालसा और मन की बुरी कामनाओं के कारण मनुष्य के मन के भीतर उत्पन्न होता है। हम अस्तेय धर्म को स्वीकार करके सहज में ही मन की इन विषैली प्रवृत्तियों पर अधिकार कर सकते हैं और अपनी आत्मा का स्वाभाविक विकास करने के साथ-ही-साथ विश्व में भी सुख-शान्ति के प्रचार-प्रसार में योग दे सकते हैं। इसीलिए तो भगवान महावीर कहते हैं :

१. पदार्थ सचेतन हो या अचेतन, अल्प हो या बहुत—दांत कुरेदने की सींक के बराबर भी जिस गृहस्थ के अधिकार में हो, उसकी आज्ञा लिए बिना पूर्ण-संयम साधक न तो स्वयं ग्रहण करते हैं, न दूसरों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करते हैं।

२. सचाई के साथ वस्तु का मूल्य लेने और सचाई के साथ वस्तुओं को तोलकर देने से व्यापार में अभिवृद्धि होती है।

३. बुरे आचरणों से धन पैदा मत करो; क्योंकि बुरे आचरणों और चोरी से पैदा किया हुआ धन मूल-धन को भी नष्ट कर देता है।

४. मैं उसी धन को अपना धन समझता हूं, जिसे मैंने अपने परिश्रम से पैदा किया है।

५. उत्कोच लेकर सच्चे को असत्य प्रमाणित करने से मनुष्य अपने जीवन में अनेक कठिन-से-कठिन दुःखों से आग्रस्त रहता है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य चतुर्थ व्रत है। ब्रह्मचर्य क्या है—यह एक विकट प्रश्न है। आचार्यों ने ब्रह्मचर्य के अर्थ की व्याख्या इस प्रकार की है—'पुरुष के लिए अष्ट प्रकार का मैथुन न करना, अर्थात् कुभाव से किसी स्त्री का दर्शन, भाषण, स्पर्श, स्मरण, श्रवण, उसके साथ एकान्तवास, हंसी, दिल्लगी और सहवास आदि का सम्बन्ध न रखना ब्रह्मचर्य कहलाता है।' एक बहुत बड़े विद्वान् ने ब्रह्मचर्य के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—'ब्रह्मचर्य

वह साधना है, जिससे मनुष्य के शरीर के वीर्य-तेज की रक्षा होती है।' एक दूसरे विद्वान् ने ब्रह्मचर्य की परिभाषा इस प्रकार की है—'ब्रह्मचर्य उस वीर्य-शक्ति को संयमित रूप से धारण करने को कहते हैं जिससे मृत्यु का क्षय होता है और जीवन-शक्ति बढ़ती है।'

विश्व के सभी धर्मग्रन्थों और विचारकों ने मुक्त-कंठ से ब्रह्मचर्य के महत्त्व को स्वीकार किया है। वेदों में ब्रह्मचारी को ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ पद प्रदान किया गया है। 'हरिवंशपुराण' का उल्लेख है—'ब्रह्मचर्य में ही धर्म और तप की प्रतिष्ठा है।' स्मृतियों का कथन है—'ब्रह्मचर्य से तेज वायु, बल प्रज्ञा, लक्ष्मी, विशाल यश, परम पुण्य तथा भगवत्कृपा-प्रसाद, प्रीति की प्राप्ति होती है।' शास्त्रों ने स्पष्ट रूप से ब्रह्मचर्य की महत्ता की घोषणा की है—'वीर्यपात से मृत्यु और वीर्य-धारण से जीवन है। अतएव प्रयत्नपूर्वक वीर्यरक्षा करनी चाहिए।' आयुर्वेद में ब्रह्मचर्य को ही स्वास्थ्य और आत्मा के विकास का मूल कारण कहा गया है। एक स्थान पर कहा गया है—'भोजन, नींद और ब्रह्मचर्य ही स्वास्थ्य के विकास के कारण हैं।' एक दूसरे स्थान पर ब्रह्मचर्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—'ब्रह्मचर्य रूप तप से ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है।' महात्मा गांधी ने भी ब्रह्मचर्य को आरोग्य की कुंजी के रूप में स्वीकार किया है।

भगवान महावीर ने गृहस्थ और साधु—दोनों के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन अधिक आवश्यक बताया है। गृहस्थ लौकिक कार्यों में रत रहता हुआ अपनी आत्मा का विकास

करता है। उसे कई सीढ़ियां बनानी पड़ती हैं, कई सीढ़ियों पर चलना पड़ता है। फलतः उसे शरीर और आत्मा, दोनों प्रकार की शक्तियों की अधिक आवश्यकता होती है। उसकी उस आवश्यकता की पूर्ति ब्रह्मचर्य से ही हो सकती है, केवल सिद्धान्त से नहीं। अनुभवों से भी यह बात सिद्ध होती है कि जो गृहस्थ ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं, वे सर्वाधिक सुखी रहते हैं। केवल धन-धान्य की दृष्टि से नहीं, शरीर और मन की दृष्टि से भी वे अधिक तेजवान और शक्तिवान होते हैं। साधु और मुनि के लिए तो ब्रह्मचर्य अचूक रसायन के समान है। साधु और मुनि का सब कुछ तो ब्रह्मचर्य के ही ऊपर निर्भर करता है। भगवान महावीर ने गृहस्थ और मुनि, दोनों को ब्रह्मचर्य की राह दिखाकर उन्हें बलवान और तेजवान बनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। भगवान की निम्नांकित वाणियों में उनके उस स्तुत्य प्रयत्न की झलक देखी जा सकती है :

१. यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, महादोषों का स्थान है, इसलिए निर्ग्रन्थ मुनि मैथुन-संसर्ग का सर्वथा परित्याग करते हैं।

२. आत्मा-शोधक मनुष्य के लिए शरीर का श्रृंगार, स्त्रियों का संसर्ग और पौष्टिक-स्वादिष्ट भोजन, सब तालपुट विष के समान महाभयंकर हैं।

३. श्रमण तपस्वी स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर वचन और संकेत, चेष्टा, हाव-भाव और कटाक्ष आदि का मन में तनिक भी विचार न लाए और न इन्हें देखने का

कभी प्रयत्न करे।

४. स्त्रियों को राग-पूर्वक देखना, उनकी अभिलाषा करना, उनका चिन्तन करना, उनका कीर्तन आदि कार्य ब्रह्मचारी पुरुष को कदापि नहीं करने चाहिए। ब्रह्मचर्य में सदा रत रहने की इच्छा रखने वाले पुरुष के लिए यह नियम अत्यन्त हितकर है और उत्तम ध्यान प्राप्त करने में सहायक है।

५. ब्रह्मचर्य में अनुरक्त भिक्षु को मन में वैषयिक आनन्द पैदा करने वाली तथा काय-भोग की आसक्ति बढ़ाने वाली स्त्री-कथा को छोड़ देना चाहिए।

६. ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को स्त्रियों के साथ बातचीत करना और उनसे बार-बार परिचय प्राप्त करना सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

७. ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु स्त्रियों के पूर्वानुभूत हास्य, क्रीड़ा, रति, दर्प आदि कार्यों को कभी स्मरण न करे।

८. ब्रह्मचर्य-रत भिक्षुओं को शीघ्र ही वासनावर्धक, पुष्टिकारक भोजन-पान का सदा के लिए परित्याग कर देना चाहिए।

९. जैसे बहुत ज्यादा ईंधन वाले जंगल में पवन से उत्तेजित दावाग्नि शान्त नहीं होती, उसी तरह मर्यादा से अधिक भोजन करने वाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियाग्नि भी शान्त नहीं होती। अधिक भोजन किसी के लिए हितकर नहीं होता।

१०. ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को शृंगार के लिए शरीर की शोभा और सजावट का कोई भी शृंगारी काम नहीं करना चाहिए।

११. ब्रह्मचारी भिक्षु को शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पांच प्रकार के गुणों को सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

१२. देव-लोक सहित समस्त संसार के शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुःख का मूल एकमात्र काम-भोगों की वासना ही है। जो साधक इस सम्बन्ध में वीतराग हो जाता है, वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुखों से छूट जाता है।

१३. जो मनुष्य इस प्रकार दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं।

१४. यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है और शाश्वत है इसके द्वारा पूर्वकाल में कितने ही जीव सिद्ध हो गए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे।

अपरिग्रह

'अपरिग्रह' का अर्थ समझने के लिए परिग्रह का अर्थ समझना अत्यधिक आवश्यक है। साधारण रूप में धन, सम्पत्ति आदि को ही 'परिग्रह' कहते हैं। पर आध्यात्मिक जगत् में परिग्रह का अर्थ ममता और आसक्ति की ओर इंगित करता है। आध्यात्मिक जगत् में ममता और आसक्ति के कारण वस्तुओं का अनुचित संग्रह करना या आवश्यकता से अधिक संग्रह करना परिग्रह है। परिग्रह के अभाव का नाम अपरिग्रह है। परिग्रह यदि आसक्ति है, तो अपरिग्रह को अनासक्ति कह

सकते हैं। सन्तोष अपरिग्रह के ही अन्तर्गत आता है।

'अपरिग्रह' लोक और परलोक—दोनों प्रकार के सुखों के लिए अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। भगवान महावीर ने अहिंसा और सत्य के समान ही अपरिग्रह पर भी अधिक बल दिया है। उन्होंने 'सूत्रकृतांग' में स्पष्ट घोषणा की है—'जो साधक किसी भी प्रकार का परिग्रह स्वयं करता है, दूसरों से रखवाता है अथवा रखनेवालों का अनुमोदन करता है वह कभी भी दुखों से मुक्त नहीं हो सकता।' प्रश्न-व्याकरण में अपरिग्रह के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—'समग्र लोकों के समस्त जीवों के लिए परिग्रह से बढ़कर कोई बंधन नहीं है।' वैकालिक-सूत्र में आचार्य शंयभव का कथन है—'परिग्रह से रहित मुनि जो पात्र, पीढ़ी, कमण्डल और अपने साथ वस्तुएं रखते हैं, वे एकमात्र संयम की रक्षा के लिए रखते हैं तथा अनासक्ति-भाव से वे उनका उपयोग करते हैं।'

भगवान महावीर की निम्नांकित वाणियों में अपरिग्रह की महत्ता की ही घोषणा की गई है :

१. पूर्ण संयमी को धन-धान्य और नौकर-चाकर आदि सभी प्रकार के परिग्रहों का त्याग करना होता है। समस्त पाप-कर्मों का परित्याग करके सर्वथा निर्मल होना तो और भी कठिन बात है।

२. जो संयमी पुरुष ज्ञान-पुत्र (भगवान महावीर) के प्रवचनों में रत है, वे बिड और उद्भेद्य आदि नमक तथा तेल, घी, गुड़ आदि किसी भी वस्तु के संग्रह करने का मन में संकल्प तक नहीं करते।

३. ज्ञानी पुरुष संयम-साधक उपकरणों के लेने और रखने में किसी भी प्रकार का ममत्व नहीं करते। वे अपने शरीर पर भी ममता नहीं रखते।

४. संग्रह करना—यह अन्तर रखने वाले लोभ की झलक है। अतएव मैं मानता हूं कि जो साधु मर्यादा-विरुद्ध कुछ भी संग्रह करना चाहता है, वह गृहस्थ है, साधु नहीं।

भगवान महावीर ने निर्वाण की सीढ़ियों में आत्मा, कर्म, विनय, समता, इन्द्रिय-निग्रह, तप, ध्यान और क्षमा आदि को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उन्होंने मनुष्य को इन सभी क्षेत्रों में चलने और अग्रसर होने की प्रेरणा दी है। उन्होंने जहां आत्मचिन्तन पर बल दिया है, वहीं उन्होंने कर्म की सत्ता भी स्थापित की है। जहां तप, ध्यान और उपासना को महत्त्वपूर्ण बताया है, वहीं आत्मा की पवित्रता को प्रमुखता प्रदान की है। उन्होंने विनय, समता, क्षमा, धर्म और मानवता के क्षेत्र में आगे बढ़ाकर मनुष्य को देवतुल्य बनाने का सफल प्रयत्न किया है। उनकी शरण में जो गया, जिसने अपने जीवन को उनके उपदेशों के सांचे में ढाला या ढालने का प्रयत्न किया, वह धन्य हो गया, मनुष्य होते हुए भी देव-पद पर प्रतिष्ठित हो गया। यहां तक कि वह मनुष्य से परमात्मा बन गया। सदा के लिए संसार से मुक्त हो गया। सब दुखों के बन्धनों से छूट गया। क्यों न हो, महावीर स्वामी का दृष्टिकोण बड़ा महान् था। उनके उपदेशों में आत्मा को परमात्मा बनाने की शक्ति थी।

तृषा और तृप्ति

समय-समय पर भगवान के अनुयायियों ने उनके चरणों के पास बैठकर उनसे विविध विषयों पर प्रश्न किये हैं। कुछ बड़े-बड़े विद्वानों और आचार्यों ने भी अपनी शंकाओं के निवारणार्थ उनसे प्रश्न किये हैं। वे सभी प्रश्न और उन पर भगवान के उत्तर बड़े ज्ञानवर्धक और जीवनोपयोगी हैं। तृषा और तृप्ति में वही प्रश्न और उन पर भगवान के उत्तर संकलित किये गए हैं। प्रश्न और उत्तर जहां प्राण-प्रेरक हैं, वहाँ उनसे भगवान के दिव्य और पावन ज्ञान पर प्रकाश भी पड़ता है।

प्रश्न—हे पूज्य, मनुष्य लक्ष्मीवान् अपने किस कर्म से होता है ?

उत्तर—हे भव्यजीव, परमोत्तम वृत्ति वाले मुनियों, श्रावकों, दीन-दुखियों और अनाथों को उचित भोजन और जल देने से मनुष्य लक्ष्मीवान् होता है।

प्रश्न—हे पूज्य, मनुष्य को मनोवांछित भोगेय भोग उसके

किस कर्म के द्वारा प्राप्त होते हैं ?

उत्तर—प्राणी-मात्र पर दया-भाव दिखाने और परोपकार करने से मनुष्य को मनोवांछित भोगेय भोग प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—हे पूज्य, पुरुष या स्त्री को सुन्दरता और चतुरता उसके किस कर्म से प्राप्त होती है ?

उत्तर—जिज्ञासापूर्वक ब्रह्मचर्य-पालन और तपस्या करने से।

प्रश्न—हे पूज्य, मनुष्य को स्वर्ग और मोक्ष कैसे प्राप्त होते हैं ?

उत्तर—यथोचित ढंग से तप, संयम और आराधना करने से तथा मन में सुष्ठु भावनाएं उत्पन्न करने से।

प्रश्न—हे पूज्य, कुछ मनुष्य अपने किन कर्मों के परिणाम-स्वरूप अभय होते हैं ?

उत्तर—भयभीत जीवों को निर्भयता या अभयता प्रदान करने से।

प्रश्न—हे पूज्य, मनुष्य अपने किस कर्म के परिणामस्वरूप बलवान होता है ?

उत्तर—वृद्ध, तपस्वी और रोगी की सच्चे मन से सेवा करने से।

प्रश्न—हे पूज्य, कोई मनुष्य अपने किस पुण्य से मृदु और आनन्ददायक वाणी बोलने वाला होता है ?

उत्तर—आजीवन सत्य-भाषण करने से।

प्रश्न—हे पूज्य, कोई मनुष्य अपने किस पुण्य के कारण सबको प्रिय लगता है ?

उत्तर—सत्य-निष्ठ होकर धर्म की आराधना करने से।

प्रश्न—हे पूज्य, कोई मनुष्य अपने किस पुण्य के कारण सर्वमान्य होता है ?

उत्तर—परहितकारी कार्य करने से।

प्रश्न—हे पूज्य, मनुष्य हीन-कुल में क्यों जन्म लेता है ?

उत्तर—उच्चकुल का अहंकार करने से।

प्रश्न—हे प्रभो, मनुष्य किस कर्म से दुर्बल होता है ?

उत्तर—बल का घमंड करने से।

प्रश्न—हे प्रभो, मानव-जन्म किन कर्मों के कारण प्राप्त होता है ?

उत्तर—विनयपूर्वक भक्ति करने से, सरलता और भद्रता प्रदर्शित करने से, झूठे प्रपंचों में न पड़ने से, दीन-दुखियों के प्रति दया दिखाने से।

प्रश्न—हे प्रभो, पुरुष अपने किस कर्म से सेवक और स्त्री सेविका होती है ?

उत्तर—अपने धन और पद का घमंड करने से।

प्रश्न—हे पूज्य, मनुष्य अपने किन कर्मों से इन्द्र, देवता और नरेन्द्र से पूजित होता है ?

उत्तर—मन, वचन और शरीर से अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करने से।

प्रश्न—हे पूज्य, किसी मनुष्य के माता-पिता उसके किस कर्म के कारण बाल्यावस्था में ही उससे बिछुड़ जाते हैं ?

उत्तर—पशुओं के छोटे-छोटे बच्चों के माता-पिता की जान लेने से।

प्रश्न—हे प्रभो, अनायास ही धन किस कर्म से प्राप्त होता है ?

उत्तर—गुप्त रूप से दान देनें से।

प्रश्न—हे प्रभो, युवावस्था में पत्नी का वियोग क्यों होता है ?

उत्तर—पूर्व-जन्म में बलात्कार करनें से।

प्रश्न—युवावस्था में स्त्री को पति का वियोग उसके किस कर्म के कारण सहना होता है?

उत्तर—पुरुष को वश में करनें के लिए तन्त्र मन्त्र करनें और औषधियों के प्रयोग से।

प्रश्न—हे पूज्य, शरीर में एक साथ ही सोलह रोग किस कर्म के फलस्वरूप पैदा होते हैं ?

उत्तर—ग्रामों, नगरों को जलाने से, जनता को दुःख पहुंचाने से।

प्रश्न—हे प्रभो, कोई मनुष्य सत्य बोलता है, किन्तु फिर भी लोग उसकी बात पर विश्वास क्यों नहीं करते ?

उत्तर—झूठी गवाही देने के कारण, या असत्यवादियों की सहायता करने के कारण।

प्रश्न—हे पूज्य, मनुष्य को दुखमय दीर्घ जीवन उसके किस कर्म के कारण प्राप्त होता है ?

उत्तर—चलते-फिरते त्रस्त जीवों की हिंसा करने से, असत्य-भाषण करने से, मुनियों को असाताकारी भोजन-जल देनें से।

प्रश्न—हे पूज्य, मनुष्य को सुखमय जीवन उसके किस पुण्य-कर्म के कारण प्राप्त होता है ?

उत्तर—जीवों की रक्षा करने से, मुनियों को साताकारी भोजन-जल देने से।

प्रश्न—हे पूज्य, किसी मनुष्य को उसके किस कर्म के कारण एक पैसे की भी आय नहीं होती ?

उत्तर—अपनी आय का अहंकार करने से, दूसरों की उन्नति को देखकर जलने से।

प्रश्न—हे पूज्य, शरीर में प्रत्यक्ष रूप से कोई रोग न होने पर भी मनुष्य क्यों अनेक प्रकार के दुखों से दुखित रहता है ?

उत्तर—रिश्वत लेकर सत्य को असत्य सिद्ध करने से।

भगवान महावीर की वाणियों और उपदेशों में अमृत बहता है। कितने ही उनके उपदेशामृत-वचनामृत ही पीकर तृप्त हो गए, कितने ही तृप्त हो रहे हैं और आगे भी होंगे। आपकी तृप्ति के लिए भी भगवान की कुछ वाणियों का संकलन यहां किया जा रहा है :

जीवन और सांसारिक सुख-समृद्धि के लिए धर्माचरण मत करो, पूजा-प्रतिष्ठा के लिए धर्माचरण मत करो। केवल आत्मा को पवित्र बनाने के लिए धर्माचरण करो।

मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसी के अनुसार उसे दुख-सुख भी भोगने पड़ते हैं। अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है।

किसी को शत्रु मत समझो। वस्तुत: कोई शत्रु है ही नहीं। अपना दृढ़ विश्वास ही जिस किसी के प्रति होता है, मित्र है। उसके विपरीत अविश्वास ही शत्रु है। सबको समान दृष्टि से देखो, सर्वत्र मित्र ही मित्र मिलेंगे। तू दूसरों को अपना शत्रु

मानकर अपने ही प्रति अविश्वास प्रकट करता है।

विचारों के प्रति आग्रह प्रकट करना हिंसा है। यदि सत्य है तो उसे स्वीकार करो, पर आग्रह मत करो। आग्रह से सत्य भी डूब जाता है। विचारों को लेकर परस्पर खींचातानी न करो। यह आग्रह मत करो कि दूसरा मनुष्य तुम्हारे विचारों को मान ही ले।

जातिवाद व्यर्थ है। जातिवाद के प्रपंचों में वही फंसता है, जो सत्य से अपरिचित है। काले-गोरे, अच्छे-बुरे, स्त्री-पुरुष, युवा-वृद्ध——सब में परमात्मा विद्यमान है। जाति का अहंकार मत करो। दूसरों को अपने से हीन मानकर गर्व मत करो। दूसरों से अपने को हीन मानकर दीन मत बनो। सर्वत्रसमभाव रखो।

सुख-दुख दोनों ही मन की उपज हैं। तुम्हीं स्वयं अपने मित्र हो, तुम्हीं स्वयं अपने शत्रु भी हो। तुम क्या बनना चाहते हो, इसका निर्णय तो तुम्हीं को करना है।

प्रत्येक आत्मा में भगवान है। उसको प्रकट करने पर प्रत्येक आत्मा भगवान बन जाती है।

समता ही वास्तविक धर्म है। लाभ-हानि, सुख-दुख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान—सबमें समभाव रखो।

जीवों को मारना और वैर-विरोध रखना हिंसा है, वैसे ही एकान्त दृष्टि और मिथ्या आग्रह भी हिंसा है।

आत्मा न हीन है, न उच्च। सब समान है। धर्म का आलय आत्मा ही है।

गृहस्थ के वेश में वह मनुष्य भी परमात्मा बन जाता है, जो

अहिंसा की सर्वोच्च सीढ़ी तक पहुंच जाता है।

गृहस्थ कुछ भिक्षुओं से अच्छे होते हैं, क्योंकि उनमें ऊंचे दर्जे का संयम होता है, अहिंसा होती है। जिस भिक्षु में उच्च कोटि का संयम होता है, पूर्ण विकसित अहिंसा होती है, वह सभी गृहस्थों से अच्छा हो सकता है।

आत्मा को प्राप्ति न गांव में होती है, न वन में। यदि आत्मा स्वयं अपने को देखनेवाला बने तो आत्मा की प्राप्ति वन और गांव दोनों में कहीं भी हो सकती है।

आत्मा अकेला है। वह अपने आप में पूर्ण है।

आत्मा को परमात्मा के रूप में परिवर्तित करने की जो प्रक्रिया है, वही धर्म है। सम्प्रदाय, चिह्न, वेश, बाह्य आचार-विचार, कर्मकाण्ड आदि धर्म के साधन कहे जा सकते हैं, पर धर्म नहीं।

तू ही तेरा मित्र है। बाहर तू किसे खोजता है? मित्र वह है जो दुखों के बन्धन से छुड़ाए, कल्याण करे।

सुख-दुख अपना ही बनाया हुआ होता है। स्वर्ग और नरक मनुष्य के अपने ही हाथ में हैं। अच्छा कर्म अच्छा फल देता है और बुरा कर्म बुरा फल। मनुष्य अपनी ही प्रेरणा से कर्म करता है और अपनी ही प्रेरणा से उसका फल भोगता है।

संसार में बहुत से चर और स्थावर प्राणी बड़े ही सूक्ष्म होते हैं, वे रात्रि में देखे नहीं जा सकते। तब रात्रि में भोजन कैसे किया जा सकता है?

धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका अन्तिम रस है। विनय से मनुष्य बहुत शीघ्र श्लाघा-युक्त सम्पूर्ण शास्त्र-ज्ञान

तथा कीर्ति का सम्पादन करता है।

जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, उनके पास रहता है, उनके इंगितों तथा प्रकारों को जानता है, वही शिष्य विनीत कहलाता है।

जो मनुष्य निष्कपट और सरल होता है, उसी की आत्मा शुद्ध होती है और जिसकी आत्मा शुद्ध होती है, उसी के पास धर्म ठहर सकता है। घी से सींची हुई अग्नि जिस प्रकार पूर्ण प्रकाश को पाती है, उसी प्रकार शुद्ध साधक ही पूर्ण निर्वाण को प्राप्त होता है।

संसार में जीवों को इन चार श्रेष्ठ अंगों की प्राप्ति बड़ी कठिन है—मनुष्यत्व, धर्म-श्रवण, श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ।

संसारी मनुष्य अपने प्रिय कुटुम्बियों के लिए बुरे-से-बुरे कर्म भी कर डालता है, पर जब उनके दुष्कर्म भोगने का समय आता है, तब वह अकेला ही दुख भोगता है। कोई भी भाई-बन्धु उसका दुख बांटने वाला, सहायता पहुंचाने वाला नहीं होता।

तेरा शरीर दिनप्रति-दिन जीर्ण होता जा रहा है, सिर के बाल पककर श्वेत होने लगे हैं, शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार का बल घटता जा रहा है। हे गौतम, क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

जैसे ओस की बूंद तृण की नोक पर थोड़ी ही देर तक रहती है, वैसे ही मनुष्यों का जीवन भी बहुत अल्प है, शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है। इसलिए हे गौतम, क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

जैसे वृक्ष का पत्ता पतझड़ ऋतु कालिक रात्रि-समूह के बीत जाने के बाद पीला होकर गिर जाता है, वैसे ही मनुष्यों का जीवन भी आयु समाप्त होने पर सहसा नष्ट हो जाता है। इसलिए हे गौतम, क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

जैसे कमल शरत्काल के निर्मल जल को भी नहीं छूता, पृथक् और अलिप्त रहता है, उसी प्रकार तू भी संसार से अपनी समस्त आसक्ति दूर कर, सब प्रकार के प्रेम-बन्धन से रहित हो जा। हे गौतम, क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

राग और द्वेष—दोनों कर्म के बीज हैं, अतः मोह ही कर्म का जनक है। संसार में जन्म-मरण का मूल कर्म है और जन्म-मरण ही एकमात्र दुख है।

निर्वाण की पुण्य बेला

भगवान महावीर ने तीस वर्षों तक लगातार देश-विदेश का परिभ्रमण किया। वह धरती पर ज्ञान का अमृत-प्रवाह बहाने के लिए आए थे। उनका आविर्भाव दुखी धरती की सकरुण पुकार पर ही हुआ था, इसलिए वह सदा घूमते ही रहे। अपने महान पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त ज्ञान-प्रकाश को धरती पर फैलाते रहे। उन्होंने सचमुच मानव-समाज को दुखों से छुड़ाया, उसके हृदय में ज्ञान का दीपक जलाकर उसे वास्तविक सुख, शान्ति और कल्याण के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। उन्होंने उसके सामने सुख, शान्ति और कल्याण के मार्ग को प्रशस्त किया। भगवान महावीर के द्वारा दिखाए हुए पथ पर चलकर सचमुच धरती और धरती का मानव-समाज क्लेशों से मुक्त हो गया।

संसार के रंगमंच पर अनेक क्रान्तियां हो चुकी हैं। पर उन सम्पूर्ण क्रान्तियों का प्रभाव बाह्य-जगत् तक ही सीमित

था। उनसे लाभ अवश्य हुआ, पर साथ ही उनके द्वारा विकारों की सृष्टि भी हुई। यही कारण है कि मनुष्य को जो सुख और शान्ति मिलनी चाहिए, न मिली और मनुष्य व्याकुल-का-व्याकुल बना रहा। भगवान महावीर ने अपनी क्रान्ति के द्वारा मनुष्य के मन की व्याकुलता को सदा के लिए दूर कर दिया। उन्होंने अपनी क्रान्ति के द्वारा मनुष्य के अन्तर्मन को स्वच्छ और निर्मल बनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। वह जाति, सम्प्रदाय और वर्ग की सीमा से बाहर तो निकले ही, देशों के सीमा-बन्धनों को तोड़कर उनसे भी बाहर जा खड़े हुए। उनके सामने केवल मनुष्य था, केवल मानवता थी। उन्होंने मनुष्य के भीतर प्रविष्ट होकर उसकी मानवता को जगाया, विषमताओं की खाइयों को पाटकर सबको समान रूप से एक सूत्र में गूंथा। उनके पास जो अनन्त था, उन्होंने सब कुछ सब के लिए समान रूप से लुटा दिया। वह धन्य थे, धन्य था उनका वह अवतरण। धरती उनके उस पावन अवतरण को स्मरण करके युगों तक पुलकित होती रहेगी।

भगवान महावीर सम्पूर्ण मानव-समाज को तीस वर्षों तक ज्ञानामृत पिलाने के पश्चात बिहार प्रदेश के पावापुर नामक स्थान में पहुंचे। उन दिनों पावापुर में हस्तिपाल का राज्य था। भगवान के आगमन से हस्तिपाल की रग-रग में हर्ष का सागर उमड़ पड़ा। हर्ष का सागर उमड़ पड़ा उस नगर के हृदय में जहां भगवान का आगमन हुआ था। कोना-कोना सज उठा, घर-घर में मंगल-गान हुए, द्वार-द्वार पर मंगल-कलश रखे गए। जन-जन के हृदय से आनन्द का स्रोत फूट पड़ा, उल्लास का

सागर उमड़ पड़ा । पावापुर के समस्त स्त्री-पुरुषों नें भगवान के स्वागत में अपने प्राण-कुसुम बिछा दिए। क्यों न हो, निर्वाण के देवता नें अपने पवित्र आगमन से उन्हें कृतकृत्य किया था न !

भगवान महावीर उद्यान में विराजमान हुए। अपनी अमृत-वाणी से पावापुर के स्त्री-पुरुषों के हृदय में आनन्द-सिंधु को मथनें लगे। भगवान के सम्पूर्ण कार्य निःशेष हो चुके थे। उनका आविर्भाव जिस उद्देश्य से धरती पर हुआ था, वह पूर्ण हो चुका था। पावापुर के स्त्री-पुरुषों को वह अन्तिम घूंट पिलाकर, उनके मानव-जीवन को सार्थक बना रहे थे।

ईसवी पूर्व ५२७ कार्तिक कृष्णा की चतुर्दशी समाप्त हो रही थी। मंगल अपने प्रारम्भ चरण पर था। रात्रि का अवसान होने को था। पौ फट रही थी। चन्द्रमा स्वाति नक्षत्र में था। भगवान महावीर सबसे पृथक्, एकान्त में ध्यानमग्न थे। सहसा उनके भीतर से प्रकाश निकला और चारों ओर फैलकर, महा-आकाश में विलीन हो गया। वह अपने दिव्य-ज्ञान की अतुल सम्पत्ति धरती पर छोड़कर दिव्य-लोक को चले गए।

पावापुर उसी दिन से पवित्र तीर्थ बन गया। भगवान महावीर के भक्तों और अनुयायियों ने उसे 'अपापनगरी' के नये नाम से अलंकृत किया है। सचमुच 'अपापनगरी' अपाप-नगरी ही है। जो भी अपापनगरी में जाकर भगवान महावीर के दिव्य चरण-चिह्नों के दर्शन करता है, वह सचमुच पापों और क्लेशों से मुक्त हो जाता है। भगवान के दिव्य चरण-चिह्न आज भी अपापनगरी के भव्य मन्दिर में प्रतिष्ठित हैं। •

क्या आप जानते हैं ?

- भगवान महावीर स्वामी जैनियों के चौबीसवें तथा अन्तिम तीर्थंकर हैं।
- उनका जन्म ईसा से ५९९ वर्ष पूर्व वैशाली के कुण्ड ग्राम में हुआ था।
- उनके पिता महाराज सिद्धार्थ और माता महारानी त्रिशला देवी थीं।
- 'वर्द्धमान', 'वीर', 'अतिवीर', 'सन्मति'—भगवान महावीर इन नामों से भी जाने जाते हैं।
- उन्होंने तीस वर्ष की आयु में गृह-त्याग किया।
- साढ़े बारह वर्षों की घोर साधना और कठोर तपस्या के पश्चात उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ।
- दीपावली का पावन-पर्व उनकी मोक्ष-प्राप्ति की याद में मनाया जाता है।
- बिहार प्रदेश के पावापुर नामक स्थान में ई० पू० ५२७ को ७२ वर्ष की आयु में वे निर्वाण को प्राप्त हुए।
- उनका मुख्य उद्देश्य था—'जीओ और जीने दो'।
- अहिंसा को उन्होंने परम धर्म माना है।
- उनकी मूर्ति का चिह्न शेर है।
- वीर निर्वाण सम्वत् उनके मोक्ष जाने के दिन से आरम्भ हुआ।
- उनका पचीस-सौवां निर्वाण दिवस सन् १९७४ में मनाया जा रहा है।